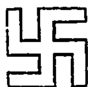
॥ अन्तिम-तीर्थंकर ॥

# अहिंसा-प्रवर्तक

सर्वज्ञ

# भगवान महावीर

॥ संक्षिप्त ॥




लेखक

गुलाबचन्द वैद्यमुथा

छिंदवाडा

म. प्र.

प्रकाशक

श्री शिखरचन्द सिद्धराज वैद्यमुथा

गोलगंज छिन्दवाड़ा म. प्र.

द्वितीय आवृत्ति–१०००

मुद्रक

त्रिवेदी ब्रदर्स,

विजय प्रिंटिंग प्रेस

छिन्दवाड़ा, म. प्र.

# निवेदन

भगवान महावीर का जीवनचरित्र लिखना कोई सरल काम नहीं है। इस विषयका जितना अध्ययन किया जाता है वह उतना ही गम्भीर और अव्यक्त प्रतीत होता जाता है। भगवान महावीरके जीवनकी सविस्तार घटनाएं व उनके ज्ञानपूर्ण उपदेशोंकी चर्चाएं बहुत ही आकर्षक और आत्मप्रबोधक भिन्नभिन्न सूत्र और शास्त्रोंमें उपलब्ध हैं, जिनमें कल्पसूत्र, आचारांग सूत्र, आवश्यक सूत्र एवं दिगम्बर आमनाओंके त्रिलोक सारादि शास्त्र व भगवानके समकालीन बौद्ध शिलालेख मुख्य हैं। यद्यपि भगवान महावीरके जीवनकी ज्ञानयुक्त और युक्तिपूर्ण रचनाएं विरलतासे पाई जाती हैं, पर वे ऐसी विचित्र, भावगर्भित, गहन और विवेकपूर्ण हैं कि उनपर एक-एक उपयोगी विशाल ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना हो सकती है। अगाध ज्ञान भण्डार एवं आत्मकल्याणके अतिरिक्त लौकिक संसार-शांति-स्थापक सामग्री यदि कहीं उपलब्ध है तो वह केवल भगवान महावीरके जीवनसे ही प्राप्त हो सकती है।

खेदका विषय है कि हमारे बहुतसे भाई लोग अज्ञानतावश भगवान महावीरको श्रीराम भक्त 'हनुमान जी' ही समझ बैठे हैं। यह एक भारी भूल है। भगवान महावीर, जिनका नाम 'वर्द्धमान स्वामी' भी है, अन्तिम अहिंसा प्रवर्त्तक चौबीसवें जैन तीर्थंकर हैं जो आजसे पच्चीस सौ वर्ष पूर्व इस भारतवर्षकी पवित्र भूमिपर अवतीर्ण हुए थे। इस पुस्तकमें उक्त शास्त्रोंके आधार व मुनि महात्माओं एवं पण्डितोंके सम्पर्कसे जो कुछ प्राप्त हो सका बालोत्साहसे प्रेरित लेखकने अपनी क्षुद्र बुद्धिसे भगवानकी मुख्य मुख्य लीलाओंका संक्षिप्त तथा यथाशक्ति सरल एवं ग्राह्य वर्णन किया है। उस गहन विषयमें मतभेद, विरोध एवं भूलोंक होना अनिवार्य है। अत: लेखक क्षमाप्रार्थी है और आशा करता है कि विरोधको भूलकर, तथा भूलोंको सुधारकर पठन करके पाठकगण इस पुस्तक द्वारा अपनी आत्माका स्तर भली भांति ऊंचा उठावेंगे।

इस सरल, शांतिदायक संक्षिप्त भगवान महावीरके जीवन चरित्र का भारतके घर-घरमें सदुपयोग हो, यही अभिप्राय एवं शुभ कामना है।

**छिन्दवाडा, म. प्र.**
ता. १०-४-१९५१

**गुलाबचन्द वैद्यमुथा**

# — प्राक्कथन —

लेखक— श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर

जैन धर्म में सर्वोच्च स्थान तीर्थंकर का है। जैन धर्म के नवकार महा मंत्र में पहले अरिहंतों को उसके बाद सिद्धों को नमस्कार किया गया है। क्योंकि सिद्धों को स्वरूप बताने वाले अरिहंत ही होते हैं, इसलिए उनका उपकार सबसे बड़ा है। वैसे तो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है। पर सिद्ध के शरीर, इन्द्रियाँ आदि नहीं होती इसलिए वे किसी का प्रत्यक्ष उपकार नहीं कर सकते, जबकि अरिहंत - तीर्थंकर अपनी लम्बी आयुष्य मर्यादा में लाखों करोड़ों व्यक्तियों को मोक्ष मार्ग बतलाते हैं। उनसे अनेकों व्यक्ति प्रतिबोध पाकर मोक्ष लाभ लेते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ या तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही अरिहंतों को तीर्थंकर कहा जाता है। वे अपने पूर्व जन्मों में गुणी व्यक्तियों की भक्ति और सेवा करते हैं। इसी के फलस्वरूप सम्यक दर्शन प्राप्त करके आत्मोन्नति में आगे बढ़ते जाते हैं। तीर्थंकर जन्म से पहले के पहले भव में वे बीस स्थानक यानी षोडप कारणों की आराधना करते हैं और सब जीवों के कल्याण की कामना बड़े तीव्र भाव से करते हैं। इसलिए तीर्थंकर नामकरण और महान पुण्योदय का विशिष्ट बन्ध होता है। जिसके परिणाम में तीसरे जन्म में वे तीर्थंकर बनते हैं। उनमें एक विशिष्ठ प्रकार की योग्यता रहती है। जिससे गर्भ और जन्म से लेकर कई अतिशय प्रकट होते हैं। आगे चलकर

वे सन्यास अर्थात साधु धर्म की दीक्षा लेकर साधना करते हैं। फिर केवल ज्ञान पाकर सर्वज्ञ विचरते हुए धर्मोपदेश देते रहते हैं। उनकी वाणी से प्रभावित होकर हजारों व्यक्ति सर्व विरति धर्म और लाखों व्यक्ति देश विरति धर्म तथा सम्यक दर्शन को प्राप्त करते हुए आत्म कल्याण करते हैं। ऐसे महान उपकारी व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान देना सर्वथा उपयुक्त ही है। उनके प्रवर्तित तीर्थों को आचार्य समंतभद्र ने सर्वोदय तीर्थ की सँज्ञा दी है।

जैन मान्यता के अनुसार पांच भरत ही पाँच आर्यावृत क्षेत्र में उत्कर्ष और अपकर्ष काल जिसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा जाता है। दोनों को मिलाकर काल चक्र कहा जाता है। प्रत्येक उत्कर्ष और अवनत काल से तीसरे चौथे आरों में चौवीस तीर्थंकर जन्म लेते हैं। हम लोग जहाँ निवास करते हैं वहाँ दक्षिण भरत क्षेत्र है। और वर्तमान काल अवसर्पिणी अर्थात ह्रासमान काल है। उसके तीसरे आरे के काल में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए, जिन्होंने वर्तमान भारतीय सभ्यता का सूत्रपात किया। उनके बड़े पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष या भरत क्षेत्र पड़ा। भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को लिपि और अँक अर्थात लिखने और गणित का ज्ञान और चौसठ कलायें सिखलाई एवं पुरुषों को ७२ कलायें या विद्यायें सिखाई असी, मसी और कृषि और सभी तरह के जीवनोंपयोगी हुनर सिखाये। इसलिए ऋषभदेव, आदिनाथ, आदीश्वर कहलाए। भागवत पुराण में भी उनको अवतार मानते हुए जैन धर्म का प्रवर्तक वतलाया गया है।

ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २० तीर्थंकर और हुए, उसके बाद भगवान अरिष्नेमि २२ वें तीर्थंकर हुए जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। महाभारत के युद्ध को इतिहास माना जाए तो भगवान नेमीनाथ को भी ऐतिहासिक पुरुष मानना ही चाहिए। प्राचीन आगमों में महाभारत ग्रन्थ का नाम इतिहास ही दिया गया है। भगवान नेमिनाथ की मथुरा आदि मे कुछ ऐसी प्राचीन मूर्तियाँ मिली है। जिनके साथ कृष्ण वलराम भी उत्कीर्णित है। इसलिए उनके घनिष्ट सम्वन्ध की पुरातात्विक साक्षी भी प्राप्त है। जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण भगवान अरिष्ठनेमि के वड़े ही भक्त थे। नेमिनाथ का निर्वाण गिरनार पर्वव पर हुआ। नेमि राजुल की गाथा वहुत ही प्रसिद्ध है। तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ पुरुपादानीय को तो सभी मिशन ऐतिहासिक महापुरुष मानते ही है। भगवान महावीर के निर्वाण से पार्श्वनाथ का निर्वाण केवल २५० वर्ष पूर्व ही हुआ था। भगवान पार्श्वनाथ के साधु, साध्वी और श्रावक श्राविका भगवान महावीर के समय में विद्यमान थे। भगवान महावीर के पिता और माता भी भगवान पार्श्वनाथ के ही अनुयायी थे। दि० दर्शनसार ग्रन्थ के अनुसार तो महात्मा बुद्ध ने भी पार्श्व परम्परा में ही पहले दीक्षा ली थी। भगवान पार्श्वनाथ का निर्वाण सम्भेत शिखर पर हुआ था। २४ तीर्थंकरों में उनकी प्रसिद्धि सवसे ज्यादा है। पार्श्वनाथ के मन्दिर एवं मूर्तियाँ एवं स्तोत्र स्तवन आदि भी सर्वाधिक प्राप्त है। भगवान पार्श्वनाथ के कई साधु भगवान महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गए थे। भगवान पार्श्वनाथ ने चतुर्मास धर्म का प्रवर्तन किया

था। उनमें से चौथे काम अर्थात व्रत में संशोधन या शुद्धि करके ब्रह्मचर्य को अलग व्रत बतलाते हुए भगवान महावीर ने पंचमहाव्रत रूप धर्म का प्रचार किया था। उत्तराध्ययन सूत्र के केशि गौतम सम्वाद में पार्श्व व महावीर के धर्म का अन्तर स्पष्ट किया गया है।

अब से २५७२ वर्ष पहले २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ जिनका मूल नाम वर्द्धमान था। १२ वर्षों तक महान कठिन साधना करके उन्होंने केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त किया। फिर चतुर्विध संघ की स्थापना करके ३० वर्ष तक अनेक स्थानों में धर्म प्रचार करते हुए २५०० वर्ष पहले मध्य पावा में निर्वाण को प्राप्त हुए। इसी उपलक्ष में अभी भारत भर में और विदेशों में भी उनका २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा है।

अब से ३० वर्ष पहले श्री गुलाबचन्द वैदमुथा ने अहिंसा प्रवर्तक सर्वज्ञ भगवान महावीर नाम का संक्षिप्त जीवन चरित्र प्रकाशित किया था। उसके अन्तिम ३ पृष्ठों में श्री 'महावीर स्तवन' नामक मेरी कविता भी प्रकाशित की थी। श्री गुलाबचन्दजी जैनधर्म के अच्छे जानकार और व्यवहार कुशल व्यक्ति थे। उन्होंने भगवान महावीर सम्बन्धी यह पुस्तक उस समय को देखते हुए बहुत अच्छे रूप में लिखी थी। कुछ महिने पहले मेरे पत्रानुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की प्रति भेजते हुए पत्र दिया था। अभी २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव के प्रसंग से भाषण देने के लिए छिदवाड़ा जाना हुआ। तब उनके सुपुत्रों से ज्ञात हुआ कि श्री गुलाबचन्दजी का देहान्त हो गया है। और उनकी लिखी हुई 'अहिंसा प्रवर्तक भगवान महावीर'

पुस्तक की वे द्वितीया वृत्ति छपवा रहे हैं। उनका अनुरोध था कि मैं इस पुस्तक का प्राक्कथन शीघ्र ही लिख भेजूं। अतः इस वक्तव्य के द्वारा उनके अनुरोध रक्षा का प्रयत्न कर रहा हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को लेखक ने स्वयं ही संक्षिप्त व सरल चरित्र बताया है। उन्होंने अपने निवेदन में स्वयं ही लिखा है कि शास्त्रों के आधार और मुनि महात्माओं एवं पंडितों के सम्पर्क से जो कुछ प्राप्त हो सका बालोत्सव से प्रेरित लेखक ने अपनी शुद्ध बुद्धि से भगवान की मुख्य-मुख्य लीलाओं का संक्षिप्त तथा यथा शक्ति सरल एवं ग्राह्य वर्णन किया है। लेखक की यह भावना रही है कि इस पुस्तक द्वारा पाठक अपनी आत्मा का स्तर ऊँचा उठावें। इस सरल शान्तिदायक संक्षिप्त महावीर के जीवन चरित्र का भारत के घर-घर में सदुपयोग हो, लेखक की यह भावना बहुत प्रशस्त रही है। उनके सुपुत्र भी भगवान महावीर निर्वाण के २५०० वें महोत्सव पर इस ग्रन्थ का प्रचार प्रयत्न कर रहे हैं। यह बहुत ही खुशी की बात है।

महापुरुषों का जीवन बहुत ही प्रेरणादायक होता है। उससे मनुष्य को मार्गदर्शन मिलता है, आत्मोत्थान की प्रेरणा मिलती है। इसलिए भगवान महावीर के इस चरित्र का अधिकाधिक प्रचार अवश्य ही बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा। इसमें भगवान महावीर की जीवनी के साथ साथ चन्दनबाला, मेघकुमार, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, सत्याग्रहि सेठ सुदर्शन और अर्जुनमाली तथा एवन्तकुमार, धन्ना शालिभद्र, गौतम गणधर, कुम्भकार सद्दाल पुत्र, कौणिक और चेड़ा राजा युद्ध तथा गोशाला का भी प्रसंग वर्णित है। भगवान महावीर की साधना काल का इसमें अच्छा विवरण दिया गया है। वास्तव में भगवान महावीर जैसे साधक विश्व भर में खोजने पर नहीं

मिलेगें। संयम, तप, ध्यान और मौन उनके साधक जीवन का मूल मन्त्र था। सम्यक की साधना ही भगवान महावीर का प्रधान लक्ष्य था। वीतरागता उनका विशिष्ठ गुण था।

जैन धर्म के अहिन्सा, अपरिग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त विश्व के लिए वहुत ही उपयोगी है। भगवान महावीर एक क्रान्तिकारी आत्म दर्शी महापुरुष थे जिन्होंने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए धर्मोपदेश दिया था। उन उपदेशों को जीवन में अपनाने से स्वयं और पर दोनों का कल्याण होता है। अशान्त जीवन और विश्व में वड़ी शान्ति मिल सकती है। खेद है जैन समाज ने भगवान महावीर का आदर्श चरित्र और उनके सिद्धान्तों को घर-घर में पहुँचाने का जैसा चाहिए वैसा प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए गुलावचन्दजी को अपने निवेदन में लिखना पड़ा कि खेद का विषय है कि हमारे वहुत से भाई लोग अज्ञानतावश भगवान महावीर को श्रीराम भक्त हनुमानजी ही समझ वैठे हैं। यह एक वड़ी भारी भूल है। मुझे भी इस वात का अनुभव अभी-अभी दो वार हुआ, जव महावीर का नाम लेते ही, क्या वे हनुमानजी ही हैं, ऐसा कहा गया। जैन समाज का कर्तव्य है कि २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव के प्रसंग से भगवान महावीर की जीवनी और उनके उपदेशों को विश्व भर में जन - जन में पहुँचाने का पूर्ण प्रयत्न करें। मैं श्री गुलावन्दजी के सुपुत्रों की इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन की भावना और प्रयत्न की सराहना करता हुआ उनके परिवार की धर्म-भावना दिनों दिन वढ़ती रहे, यही मंगल कामना करता हूँ।

अगरचन्द नाहटा
बीकानेर (राज)
मिती मिगसर सुदी ८ सं. २०३१

बीकानेर (राजस्थान)
दि. २२ दिसंबर १९७४

स्व. पू. गुलाबचन्दजी वैद्यमुथा
छिन्दवाड़ा (म. प्र.)
की स्मृति में



श्रीमति लाल कुंवरबाई गुलाबचन्द वैद्यमुथा
श्रीमति शान्तिबाई शिखरचन्द वैद्यमुथा
श्रीमति प्रमिलाबाई सिद्धराज वैद्यमुथा
श्रीमति सायरबाई सुमनराज वैद्यमुथा
श्रीमति सुशीलाबाई सुभाषचन्द वैद्यमुथा
ने सदुपयोग हेतु छपवाया.

# कालचक्र



जैन विशेषज्ञों ने इन काल चक्र के दो विभाग किये हैं। एक का नाम उत्सर्पिणी काल और दूसरे का नाम अवसर्पिणी काल है। इन दोनों को मिलाने से कालचक्र होता है। ऐसे अनन्त कालचक्र पूर्व में हो चुके है और अनन्तों ही भविष्य में होते चले जावेंगे। इसलिये काल का आदि और अन्त नहीं है ऐसा सर्वज्ञों का कथन है। जब उत्सर्पिणी काल अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है तब अवसर्पिणी काल का आरंभ होता है। और

जब अवसर्पिणी काल अपनी अन्तिम सीमा तक चला जाता है तब उत्सर्पिणी काल का उदय होने लगता है। इस प्रकार क्रमश: कालचक्र में उन्नति और अवन्नति हुआ करती है।

जैन धर्म में प्रत्येक सर्पिणी के छै छै विभाग किये हैं। उत्सर्पिणी काल के छै भाग, जिन्हें 'आरे' भी कहते हैं इस प्रकार हैं:— (१) दु:खमा दु:खम् (२) दु:खम् (३) दु:खमा सुखम् (४) सुखमा दु:खमा (५) सुखम् और (६) सुखमा सुखम्।

इस काल का स्वभाव है कि यह दु:ख की अवस्था में प्रवेश होकर क्रमश: उन्नति करता हुआ सुख की चरम सीमा तक पहुँच कर शेष हो जाता है और पश्चात् अवसर्पिणी काल आरंभ होता है।

अवसर्पिणी काल के छै विभाग (आरे) इस प्रकार हैं:— (१) सुखमा सुखम् (२) सुखम् (३) सुखमा दु:खम् (४) दु:खमा सुखम् (५) दु:खम् (६) दु:खमा दु:खम्।

इस काल का स्वभाव है कि वह सुखकी अवस्था में प्रवेश होकर दु:खकी चरम सीमातक पहुँचकर खतम हो जाता है और बाद में उत्सर्पिणी काल लग जाता है। इस प्रकार यह कालचक्र घूमता रहता है।

जैन शास्त्रनुसार उक्त दोनों कालों में चौबीस चौबीस तीर्थंकर, बाराह बाराह चक्रवर्ती, नौ नौ बलदेव, नौ नौ वासुदेव अर्थात् नारायण और नौ नौ प्रतिवासुदेव अर्थात प्रतिनारायण होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सर्पिणी काल में समय समय ६३ महान पुरुषों की उत्पत्ति होती है। इन्हें 'त्रेषठ शिलाके पुरुष

कहते हैं। इन महापुरुषोंके चरित्र-श्री हेमचन्द्र सूरिकृति 'त्रेषठ शालाका पुरुष चरित्र' में हैं।

भगवान महावीर जिस सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए हैं वह अवसर्पिणी काल कहा जाता है। इस अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव जी हुए। उनके बाद २३ तीर्थंकर और हुए हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं (२) अजीतनाथजी (३) श्री संभवनाथजी (४) श्री अभिनन्दनजी (५) श्री सुमतिनाथजी (६) पद्मप्रभूजी (७) श्री सुपार्श्वनाथजी (८) श्री चन्द्रप्रभूजी (९) श्री सुविधिनाथजी (१०) श्री शीतलनाथजी (११) श्री श्रेयान्सनाथजी (१२) श्री वासुपूज्यजी (१३) श्री विमलनाथजी (१४) श्री अनन्तनाथजी (१५) श्री धर्मनाथजी (१६) श्री शान्तिनाथजी (१७) श्री कुंथुनाथजी (१८) श्री अमरनाथजी (१९) श्री मल्लिनाथजी (२०) श्री मुनिसुव्रतनाथजी (२१) श्री नमिनाथजी (२२) श्री नेमिनाथजी (२३) श्री पार्श्वनाथजी और (२४) श्री महावीर स्वामी ॥

इस प्रकार तीर्थंकरों की क्रमावली पूर्ण होते हुए काल निर्माण का इतना समय बीत चुका है कि जिसकी गणना प्रत्येक तीर्थंकर की आयुष्य और उनके मध्यकालीन वर्षों की गिनती लगाने से ही प्रतीत हो सकती है। ये गणना जैन शास्त्रों में इतनी बताई गई है कि जिसे संख्यामें तो लिख सकते हैं परन्तु उस संख्या को पढ़ नहीं सकते। इसका कारण यह है कि आधुनिक समय में उतनी संख्या पढ़ने के लिये शब्द ही निर्माण नहीं हुए। इसीसे जैन धर्म की प्राचीनता का पता चलता है कि यह कितना पुराना सनातन धर्म है।



# प्राचीनता



जैन धर्म भारत का प्राचीन धर्म है जो अनादि काल से अविच्छित चला आ रहा है। यह एक स्वतंत्र सर्वज्ञ भाषित धर्म होने के कारण इसके सिद्धान्त बहुत ही उच्च कोटि के हैं। इस धर्म की पवित्र छत्रछाया में किसी भी प्राणी की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं हो सकता। प्राणीमात्र को इच्छितवस्तु इसी धर्म से प्राप्त हो सकती है और वह है 'जीना' अर्थात् अपना अपना जीवन। इस धर्म के आश्रय में प्राणीमात्र स्वच्छन्द और निर्भयता

से विचर सकते हैं। विश्वशांति के लिये इसी धर्म ने अहिंसा एवं दया का सुन्दर पाठ संसार को पढ़ाया है। इस धर्म की अहिंसा में ही मानव सभ्यता, विश्वव्यापी सुख और अपूर्व शान्ति की निर्मल धारा वहती है। प्राचीन से प्राचीन ऋषियों के सिद्धान्तों में इस धर्म की छटाओंका स्थान स्थान में उल्लेख पाया जाता है। इसीसे प्रतीत होता है कि यह धर्म वहुत ही प्राचीन और विश्वव्यापी धर्म है। इसकी प्राचीनता के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं जिसमें से कुछएकका संक्षिप्त उल्लेख यहां किया जाता है।

१. राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने अपने 'भूगोल हस्ता-मलक' में लिखा है कि अढाई हजार वर्ष पहिले दुनिया का अधिक भाग जैन धर्म का उपासक था।

२. ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि वेदकाल के पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था। इसीलिय वेदों की ऋचाओं में जैनियों के तीर्थंकरों के नाम आते हैं, जैसे :–

(i) यजुर्वेद (अध्याय २६) 'ॐ रक्ष रक्ष अरिष्ट नेमि स्वाहा' अर्थात, हे अरिष्ट नेमि भगवान हमारी रक्षा करो॥ (नेमि नाथ जिन्हें अरिष्ट नेमी भी कहते हैं जैनियों के २२ वें तीर्थंकर हैं)।

(ii) यजुर्वेद (अध्याय २६) 'ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभों'। अर्थात अर्हन्तनामधारी ऋषभदेव को नमस्कार हो। ऋषभदेव जी जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं जिन्हें आदिनाथजी भी कहते हैं और अर्हन्त श्री नवका-उमंग का पहला पद है।

३. ऋग्वेद–'ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठतानां चतुर्विंशति तीर्थंकराणां।
ऋषभादि वर्द्धमानान्तानां सिद्धानां शरणं प्रपद्ये।।'

अर्थ–तीन लोक में प्रतिष्ठित श्री ऋषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान स्वामी तक चौवीस तीर्थंकर हैं उन सिद्धों की शरण प्राप्त होता हूं।

४. ऋगुवेद–'ॐ नग्नं सुधीरं दिग् वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हतादित्य वर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा'।

अर्थ–नग्न धीर वीर दिगम्बर ब्रह्मस्वरुप सनातन अर्हंत आदित्य वर्ण पुरुप की शरण प्राप्त होता हूं।

ऋग्वेद–अ० २ सू ३३ वर्ग१०–'अर्हन विभर्पि सायकांति धन्वर्हंभिष्कं यजतं विश्वरूपम् अर्हन्नदं दयसे विश्वमम्भ्वं न वा ओ जी–यो रुद्रत्वहस्ति।

भावार्थ–हे अर्हन वस्तु स्वरुप धर्मरुपी वाणी को, उपदेश रुपी धनुपको तथा आत्मचतुष्ठय रूप (अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख) आभूपणों को धारण किये हो। हे अर्जुन आप संसार के सब प्राणियों पर दया करते हो और कामादि को जलाने वाले हो, आपके समान कोई रुद्र नहीं है।

ऋग्वेद–मंडल १ मू-९४ मंडल ५ मू-५२-५ में श्री ऋपभदेव की इस प्रकार स्तुति की गई है:–

ऋषभंमा सभासानां, सपत्नानां विपासहितम्, हंतारं शत्रूणां कृधि-विराजं गोपितंगवाम् ॥'

यजुर्वेद–अ ९ मंत्र २५ में कहा है :–

'स्वास्ति न इन्द्रो वृद्ध श्रवाः स्वस्तिनः पूपा विश्ववेदाः स्वस्ति न स्तोर्त्यो अरिष्ठनेमी स्वस्ति नो वृहस्पतिदधातुः ।'

इस मंत्र में इंद्र, पूषा जिन तीर्थंकर अरिष्ट नेमि और वृहस्पति से मंगल कामना की गई है इत्यादि ।

५–महाभारतः–

युगे युगे महापुण्यं दृश्य ते द्वारिकापुरी
अवतीर्ण हरिर्यत्र प्रभास शशि भूषणः ।
रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले
ऋषीणानाश्रमा देव मुक्ति मार्गस्य कारणम् ॥

अर्थ–युग युग में द्वारकापुरी महाक्षेत्र है जिसमें हरि का अवतार हुआ, जो प्रभास क्षेत्र में चन्द्रमा की तरह शोभित है, गिरनार पर्वत पर (रेवतान्द्रौ) नेमनाथ और सिद्धाचल अर्थात् विमलाचल पर्वत पर आदि-नाथ याने ऋषभ देवजी सिद्ध हुए हैं । ये क्षेत्र ऋषियों के आश्रम होने से मुक्ति मार्ग के कारण हैं ।

नोट–इससे मालूम होता है कि महाभारत के पूर्व भी जैन धर्म की [illegible] इनके रेवतादि

अर्थात् गिरनार और विमलाचलादि अर्थात् सिद्धा-
चल शेत्रुंजय पर्वत तीर्थ भी मौजूद थे।

६:-योग वसिष्ट प्रथम वैराग्य प्रकरणमें राम कहते हैं---

नाहं रामो न मेवाञ्छा, भावेषु च न मे मनः ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि चात्मन्येव जिनोयथा ॥

अर्थात्—भगवान रामचन्द्रजी कहते हैं कि 'न मैं राम हूँ, न मेरी कुछ इच्छा है और न मेरा मन पदार्थों में है, मैं केवल यही चाहता हूँ कि जिनेश्वर देव की तरह मेरी आत्मा में शान्ति हो।

७:—मनुस्मृतिः—

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमल वाहनः ।
चक्षुष्मांश्च यशस्वी वाभिचन्द्रो य प्रसेनजित् ॥
मरुदेविच नाभिश्च भरतेः कुल सत्तमः ।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजाति उरु क्रमः ॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृतः ।
नीति त्रितय कर्ता यो युगादौ प्रथमोजिनः ॥

भावार्थ—सर्व कुलों का आदिकरण पहला विमल वाहन नाम और चक्षुष्मान नाम वाला, यशस्वी अभिचन्द्र और प्रसेनजित मरुदेवी और नाभिनाम वाला, कुलमें वीरोंके मार्गको दिखलाता हुआ, देवता और दैत्यों से नमस्कार पानेवाला, और युगके आदिमें हकार, मकार, धिक्कार ये तीन प्रकार की नीतिका रचनेवाला प्रथम जिन भगवान हुआ।

नोट— विमलावाहनादिको जैन शास्त्रोंमें कुलकर कहा गया है। यहां महायुगके आदिमें जो अवतार हुआ है उसे जिन अर्थात् जैन धर्मका आदि देव लिखा है। इसके अतिरिक्त मोहेनजदारोसे प्राप्त कमसे कम ५००० पांच हजार वर्प पूर्व की सीलों और सिक्कोंमें पुरातत्ववेत्ता डा० प्राणनाथ विद्यालंकार के कथानानुसार 'नमों जिनेश्वराय' लिखा मिलता है। इससे भी विदित होता है कि युगके आदिमें जैन धर्म विद्यमान था। इसलिये सब धर्मोंमें जैन धर्मही प्राचीन धर्म प्रतीत होता है।



## जैन धर्म पर जगत् प्रसिद्ध सम्मतियां



१. पंडित राजेन्द्रनाथ ( राय प्रपन्नाचार्य ) ने अपनी 'भारत मत दर्पण' नामकी पुस्तक के पृष्ठ १० पंक्ती ९ से १५ में लिखा है कि पूज्यपादबाबू कृष्णनाथ बैनरजी ने अपनी 'जैनिज्यम्' नामकी पुस्तकमें बताया है कि भारतमें पहले चालीस करोड़ जैन थे। उसी मतसे निकलकर बहुत लोगोंके अन्य धर्ममें चले जानेसे उनकी संख्या घट गई। यह जैन धर्म बहुत प्राचीन है। इसके नियम बहुत ही उच्च और उत्तम हैं। इस धर्मसे देशको भारी लाभ पहुंचा है।

नोट- उक्त कथनमें जैनोंकी संख्या बहुत ही बढ़ी हुई मालूम होती है। परन्तु संभव है कि इतनी बड़ी संख्या भगवान ऋषभ देवजी से लेकर किसी भी तीर्थंकर के मध्यान्ह कालमें इस भूमंडल पर रही हो, क्योंकि जैनियों के प्राचीन से प्राचीन मूल ग्रन्थोंमें इस धर्म के सिवाय अन्य किसी का धर्म उल्लेख ही नहीं पाया जाता, जैसा कि पहले बताये हुए अन्य धर्मोंमें जैन तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। इसीसे इस धर्म की विशालता और प्राचीनता सिद्ध होती है।

२. महामहोपाध्य पं० गंगानाथ झा एम० ए०, डी० एल० एल० इलाहाबाद- 'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढा तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ रहस्य भरा हुआ है जिसको वेदान्त के आचार्य ने बिलकुल नहीं समझा। जो कुछ अब तक मैं जैन धर्म को जान सका हूं उससे मेरा यह विश्वास दृढ हुआ है कि यदि वे (शंकरचार्य) जैन धर्म को और उसके असल ग्रन्थों को देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म से विरोध करने की कोई बात ही न मिलती'।

३. महामहोध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए., पी० एच० डी०, एफ० आई० आर० एस० सिद्धान्त महोदधि प्रिंसिपाल संस्कृत कालेज—कलकत्ता

आप अपने २७ दिसम्बर सन् १९१३ के काशीमें दिये व्याख्यान में प्रस्तुत करते हैं कि:—

(i) 'जैन धर्म की प्राचीनता का अनुमान लगाना बहुत ही कठिन है। परन्तु इस धर्म के साहित्यने न केवल धार्मिक विभागमें किन्तु आत्मोन्नति के अन्य विभागों में भी आश्चर्यजनक उन्नति प्राप्त की है। न्याय और आध्यात्म विद्याके विभागमें तो इस साहित्यने ऊंचेसे ऊंचे विकास और क्रमको धारण किया है।

(ii) एक गृहस्थ का जीवन जो जैनत्वको लिये हुए है इतना अधिक निर्दोप है कि भारतवर्ष को उसका अभिमान होना चाहिये।

(iii) ऐतिहासिक संसारमें यदि भारतदेश ससार भरमें अपनी आध्यात्मिक और दार्शनिक उन्नतिके लिये अद्वितीय है तो इससे किसीको भी इन्कार न होगा कि इसमें जैनियोंको ब्राह्मणों और बौद्धों की अपेक्षा अधिक गौरव प्राप्त है।

४. पं० स्वामीराम मिश्रजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रोफेसर संस्कृत कालेज—बनारस

काशीके पौप शुक्ल १ संवत् १९६२ के व्याख्यान में आप दर्शाते हैं कि :—

( वैदिकमत और जैनमत सृष्टि की आदि से बराबर अविच्छिन्न चले आये हैं। इन दोनों मतोंके सिद्धान्त एक दूसरे से विशेप घनिष्ट संबंध रखते हैं। अर्थात् सत्कार्यवाद, सत्कारण-वाद, परलोकास्तित्व, आत्माकानिर्विकारत्व मोक्ष का होना और

उसका नित्यत्व, जन्मान्तर के पुण्य पापसे जन्मान्तर में फल भोग- वृतोपवासादि व्यवस्था, प्रायश्चित व्यवस्था, महाजनपूजन, शब्द प्रमाण्य इत्यादि समान हैं।

( ii ) आप कहते हैं–' सज्जनों इस धर्म में ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षान्ति, अदम्भ, अनीर्षा अक्रोध, अमत्सर्य, अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा और समदृष्टता इत्यादि गुणों में एक एक ऐसा है कि वह जहां पाया जाय वहां पर वुद्धिमान लोग उसकी पूजा करने लगते हैं। तवतो जैनोंमें पूर्वोक्त सव गुण निरतिशयसीम होकर विराजमान हैं। यह कायरों का धर्म नहीं है। एक दिन वह था कि जैनाचार्यों की हुंकार से दशों दिशाए गूंज उठती थी। परन्तु काल चक्र ने जैनमतके महत्वको ढांक दिया है इसीलिये उसके महत्वको जानने वालेभी अव नहीं रहे।

( iii ) सज्जनों ! आप जानते हैं कि मैं वैष्णव साम्प्र- दायक कट्टर आचार्य हूं तोभी भरी सभा में सत्यके कारण मुझे यह कहना आवश्यक हुआ है कि जैनोंका ग्रन्थ–सामुदाय सारस्वत महासागर है। उनकी ग्रन्थ संख्या इतनी अधिक है कि उसकी यदि सूची बनाई जाये तो एक विशाल ग्रन्थ वन जायगा। इनके ग्रन्थ वहुत गंभीर, युक्ति–पूर्ण, भाव–पूरित, विशद और अगाध हैं। यह बात वे ही जान सकते हैं जिन्होंने मेरे समान किञ्चितमात्र इनका मनन किया हो।

( iv ) सज्जनों ! जैनमत तवसे प्रचलित हुआ है जबसे संसार सृष्टिका आरंभ हुआ। मुझेतो इस प्रकार कहनेमें भी संदेह नहीं होता कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व का है।' इत्यादि

भारत शिरोमणी लोकमान्य पं. बालगंगाधर तिलक

आपके ३० नवम्बर सन् १९०४ के बड़ोदा में दिये हुए व्याख्यानसे अकलंक प्रेस, मुलतान से प्रकाशित:—

१. जैनधर्म और ब्राह्मण धर्म दोनों ही प्राचीन धर्म हैं।

२. जैन धर्म अनादि है यह विषय अब निर्विवाद हो चुका हो और इस विषय में इतिहास के दृढ़ प्रमाण हैं।

३ अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीका शक चलते चौवीस सौ वर्ष से अधिक हो चुके। शक चलाने की कल्पना जैनियों ने ही उठाई थी। इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

४. 'अहिंसा परमो:धर्म' इस उदार सिद्धान्तने ब्राम्हण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्व कालमें यज्ञके लिये असंख्य पशु हिंसा होती थी; परन्तु इस घोर हिंसाका ब्राम्हण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म हीके हिस्सेमें है।

५. जैनधर्न और ब्राम्हण धर्म का बाद में कितना निकट संबंध हुआ है ज्योतिपशास्त्री भास्कराचार्य के ग्रन्थसे विशेष उपलब्ध होता है। उक्त आचार्यने तो जैनधर्मके रत्नत्रय अर्थात्- दर्शन, ज्ञान और चरित्रको ही धर्मका मूल तत्व बतलाया है।

साहित्य रत्न—डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर

पच्चीस वर्ष पूर्व एक सभामें धर्म विषय पर कथन करते हुए आप दर्शाते हैं कि 'महावीर ( जैनियों के चौवीसवे तीर्थंकर ) ने ऐसा संदेश फैलाया कि धर्म यह मात्र सामाजिक रूढि नहीं है परन्तु वास्तिविक सत्य है। मोक्ष यह बाहरी

क्रियाकांड पालनेसे नहीं मिलता परन्तु सत्य धर्म स्वरूपमें आश्रय लेने से मिलता है। धर्म और मनुष्यमें कोई स्थायी भेद नहीं। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षाने समाज के हृदयमें जड़कर बैठी हुई दुर्भावनाओं को त्वरा से भेद दिया और सम्पूर्ण देश को पुनः धर्म मार्ग पर अग्रसर करके वशीभूत कर लिया। जैनधर्म में अहिंसा की उत्तम शिक्षा और स्वतंत्र विचार पद्धति धार्मिक क्षेत्रमें अपना विशेष स्थान रखती है' इत्यादि।

मैक्समूलर :—

जैनधर्म हिन्दूधर्मसे सर्वथा स्वतंत्र है। वह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है क्योंकि प्राचीन भारतमें किसी धर्मसे कुछ तत्व प्रथक लेकर नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथाही नहीं थी। यह धर्म बिलकुल स्वतंत्रतापूर्वक अनादि कालसे प्रचलित है'।

जर्मन डाक्टर जैकोबी :—

'जैन फिलासफीमें बहुतसी आश्चर्यजनक बातें हैं जिसका वैज्ञानिक लोगों को पता तक नहीं है मंने अपने देश में कुछ लोगोंका ध्यान इन ओर आकर्षित किया है। आज चालीस वर्षोंसे मैं इस फिलासफीका अध्ययन कर रहा हूं।

सरस्वती १२ मार्च सन् १९१३ से उधृत

कनेडियन मिशिन कालेज-इन्दौर के इतिहासवेत्ता प्रोफेसर जोहरी मिशिनरी :—

ईस्वी सन् १९१७-१८ में लेखक जब उक्त कालेज की बी० ए० क्लास में पढ़ता था तब उसे उक्त प्रोफेसर साहब से

बातचीत करने का कई बार मौका मिला। उक्त प्रोफेसर साहब का कथन था कि :–

' न गच्छेज्जिन मन्दिरम् ' इस वाक्य ने संसार को सुख और शान्ति पहुंचाने वाले जैनियों के अमूल्य रत्न भंडार ग्रन्थोंको अज्ञानकी चार दीवारोंके अन्दर बन्द कर दिया। यदि जैन धर्मके सिद्धान्तों का प्रचार दुनियां भरमें होता तो संसार के किसीभी भागमें पाशविक अत्याचार और रक्तकी नदियां न बहती जैसाकि आजकल हम यूरोपियन खंडमें सुन रहे हैं। यह धर्म उत्तम आदर्शो को लेकरही अनादिकालसे संसारकी सेवा करता चला आरहा है। यह धर्म कबसे प्रचलित हुआ यह तो इतिहास भी नहीं बता सकता, परन्तु यह अवश्य कहना पडता है कि इस धर्मके अनेक उच्च सिद्धान्तोंमें से अहिंसाका सुन्दर सिद्धान्त मनन करने योग्य है। "

श्री महावीर जयन्त्युत्सव समारोह नागपुर – ता० ३०-३-१९४२ अध्यक्ष–नागपुर हायकोर्ट के माननीय जस्टिस नियोगीने अपने भाषण में कहाकि 'जैन धर्म मार्टिनल्यूथर के प्रोटेस्टंट धर्मके अनुसार उठ खड़ा हुआ। वेद और महाभारत में जैन धर्मका उल्लेख है। जैनोंकी संख्याकी न्यूनता कोई महत्व नही रखती है, जब तक एकभी जैन जीवित रहेगा, जैन धर्म रहेगा। जैनधर्म पूर्णतया प्रजातंत्रवादि धर्म है, जिसमें स्वतंत्रता एकता, प्रेम और सहृदयता का आधिपत्य है। जैनधर्ममें तीन अमूल्य बातें है–भक्ति, कर्म, और ज्ञान जिससे व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्त होती है।'

' दैनिक–नवभारत ' नागपुर ता० ३ अप्रेल १९४२
' लोकमत ' नागपुर ता० ३ अप्रेल १९४२

इस प्रकार इस धर्मकी प्राचीनता, स्वतंत्रता और उत्तम भावनाओंके अनेक प्रमाण इतिहासमें विद्यमान हैं। यह धर्म वैज्ञानिक और स्वतंत्र धर्म होने के कारण सुदृढ और सर्वग्राही है। प्रचारकों की कमी और संकीर्णताके कारण इस धर्मका प्रकाश जैसा होना चाहिये था वैसा नहीं होरहा है। इस धर्ममें वीतराग भाव होने के कारण यह न्यायपूर्ण और निष्पक्ष धर्म प्रतीत होता है। इस धर्ममें विशेपकर गुणही पूजा जाता है। जवतो इस धर्मके प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीमद् भट्टाकलंक देवने नीचे के श्लोक में कैसे मनोहर और निष्पक्ष भावोंसे परमात्मा को नमस्कार किया है–

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वाः।
पूर्पायिर्वाविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ॥
तं वंदे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्त दोषद्विषंतम्।
बुद्धं वा वद्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥

भावार्थ–जानने योग्य सम्पूर्ण विश्वको जिसने जान लिया, संसार रूपी महासागरकी तरंगे दूसरी पारतक जिसने देखली, जिसके वचन परस्पर अविरुद्ध, अनुपम और निर्दोष हैं, जो सम्पूर्ण गुणों का भंडार और साधुओं द्वारा वन्दनीय है, जिसने राग द्वेषादि अठारह शत्रुरूपी दोषोंको नष्ट करदिया है, और जिसकी शरणमें सैकड़ों लोग आते हैं ऐसा कोई पुरुष विशेष या महान आत्मा है उसे मेरा नमस्कार हो; फिर चाहे वह शिव हो, ब्रम्हा हो, विष्णु हो, वुद्ध हो अथवा वर्द्धमान (महावीर) हो।

# भगवान महावीर के पहिले



यह तो हम पूर्व ही बता चुके हैं कि यह अवसर्पिणी काल है जिसमें चौवीस तीर्थंकर हुए हैं। उनमें से भगवान महावीरका स्थान अन्तिम तीर्थंकरका है। इनके ढाई सौ वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ स्वामी, तेवीसवें तीर्थंकर हुए थे। बस इन्हींके बादका काल भारतके इतिहासमें कालिमासे पुता हुआ है।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष जाने तक भारत वर्ष में जैन धर्मका भारी उद्योत था। इसी समय में बड़े २ ब्राम्हण इस-धर्म के धुरंधर पंडित थे। बड़े २ राजा और महाराजा लोगभी

इसी धर्मका पालन करते थे। कर्नल टाड साहेबने अपने राजस्थानीय इतिहासमें लिखा है कि भारतवर्षमें एक समय ऐसा था कि सारे देश में जैन राजा राज्य करते थे और उस समय उनके राज्यों में पूर्ण शान्ति थी। संभव है कि पीछे बतलाई हुई जैन संख्या इसी समय में इतने विशाल रूपमें रही हो।

आगे चलकर टाड साहब पुनः लिखते हैं कि जैन लोग हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक और उससे भी आगे लंका द्वीप तक और करांचीसे लेकर बंगाल, ब्रम्हदेश, स्याम और जवादि देशों तक फैले हुए थे। अनेक देशोंका व्यापार भी इन्हीं लोगोंके अधीन था। प्रत्येक प्रान्तमें उसी समयके बड़े २ जैन कार्यालय, विशाल जैन मन्दिर और अनेक आश्रमादि लोकोपयोगी संस्थाएँ इतिहास प्रसिद्ध हैं। अनेक स्थानोंमें आजतक भी उनके पुरातन तीर्थस्थान मौजूद हैं जिनकी शिल्पकारी देखकर उनकी उन्नति और प्राचीन सभ्यता का अनुमान आसानी से हो सकता है।

भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के स्वल्पकाल पश्चातही भारत वर्षमें धार्मिक श्रृंखला टूट चुकी थी और अधर्म का राज्य फैलने लगा था। ब्राम्हण लोग अपने ब्राम्हणत्व को भूलकर स्वार्थ के वशीभूत हो अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लगे थे। क्षत्रीलोग भी ब्राम्हणोंके हाथ की कठपुतली बनकर अपने कर्तव्योंसे विमुख होगये थे। समाजमें बहुत ही विकाल विश्रृंखला उत्पन्न होने लगी थी। समाज और प्रबंध अत्याचारियों के हाथमें जा पड़ा था। सत्ता उन्माद और अहंकारकी शिकार बन चुकी थी। राजमुकुट अधर्म के शिरपर मंडित था। समाजभर में त्राहि त्राहि मच गई

थी। भारत वर्षके धार्मिक और सामाजिक इतिहास में यह काल वडाही भीषण था। समाजके अन्तर्गत अत्याचारोंकी अग्नि धधक रहीथी। धर्म के नामपर स्वार्थका राज्य सवार था। धर्म और सामाजकी ऐसी दुर्दशा हो चुकी थी कि वे क्षीण क्षीण होकर कई टुकडोंमें विभाजित हो चुके थे। जिधर देखो उधरही अधर्म, पाप और हिंसा ही हिंसा दृष्टिगोचर हो रही थी। ऐसी भीभत्स भयंकरता के कारण समाज की उन्नतिके स्थानपर महान अवनति दिखाई दे रही थी। पशुवध और उग्रहिंसामय यज्ञकर्म तो भारतव्याप्त होगया था। कहीं अश्वमेघयज्ञ (जहां सहस्त्रों घोड़े अग्निमें होम दिये जाते थे), कहीं गोमेघयज्ञ (जहां गौएं जलादी जाती थी), कहीं अजमेघयक्ष (जहां वकरों की वली दी जाती थी), और कहीं कहीं तो नरमेघयज्ञ (जहां मनुष्यों तक को भयंकर अग्निज्वालामें भूंज दिया जाता था) भारतवर्ष भरमें नित प्रति होने लगे थे। निरपराधी असंख्य प्राणियोंके रुधिर से पृथ्वी सिंचित हो रही थी। सर्वत्र हाहाकार मच रहा था। ऐसी भयंकर भीभत्स अवस्था में सारी सृष्टि एक ऐसे महान् आत्मा की राह देख रही थी जो इन मूक प्राणियों को नितप्रतिके दारुण दु:खों से मुक्त कर अभीत करें।

इन प्राणियों की अभिलाभा पूर्ण हुई। भगवान महावीर ने जन्म धारण किया और उक्त सब भयंकर दशाको अपनी वुलंद आवाज द्वारा शान्तकर धार्मिक और सामाजिक सुधारके साथ भारतवर्षमें पुनः शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया। अहिंसा अर्थात् अभयदानका पाठ पढाकर प्राणीमात्रको अभीत अर्थात निर्भय वनाया। प्रभु महावीर का पवित्र चरित्र वुद्धि अगम्य है। पूर्वीय और पश्चात्य इतिहासकारोंने भगवान महावीरके विषयमें

वडे २ ग्रन्थ निर्माणकर मुक्त कंठसे प्रशंसा उच्चारित की है। अतः उन्हीं भगवान महावीरका संक्षिप्त जीवन चरित्र इस पुस्तकका मूल विषय है, जिसे पढकर प्रत्येक आत्मा शांन्ति लाभकर सकती है तथा जिसके पठन से सारा संसार समय समय पर हिंसा की धधकती ज्वालासे वचकर अपूर्व शान्तिका चिरकाल तक अनुभव कर सकता है।



# जन्म भूमि और माता त्रिशला के स्वप्न



ईस्वी सन् ५९९ वर्ष पूर्व यह भारतदेश छोटे छोटे राष्ट्रोंमें भिन्न २ नामसे विभाजित था। उस समय विहार प्रान्तमें वैशाली नामकी नगरी थी। उसके अन्तर्गत क्षत्रीय कुंड नाम का ग्राम था। जिला गयामें जहां पर आज लखवाड़ नामका ग्राम बसा हुआ है वहीं क्षत्रीय कुंट ग्रामकी स्थिति बतलाई जाती है। यही भगवान महावीरकी पुण्य जन्मभूमि है।

यद्यपि यह क्षत्रीय कुंड वैशालीके अन्तर्गत होते हुएभी एक स्वतन्त्र राजधानी भी थी। वहांके राजाका नाम सिद्धार्थ था।

राजा सिद्धार्थ के आधीन कोई बड़ा राज्य न था फिरभी उनके राज्यकी शिक्षा, वैभव, मान-सन्मान और कला-कुशलता अन्य पड़ोसी राज्योंसे बहुतही बढी चढी थी। राजा सिद्धार्थ की रानी का नाम त्रिशला था। कहीं कहीं रानी त्रिशलाको त्रिशला क्षत्राणी के नामसे भी सम्बोधित किया गया है। इससे भी मालूम होता है कि राजा सिद्धार्थ कोई छोटेसे राज्यके ही क्षत्रीसरदार थे परन्तु उनका राज्य धन धान्य एवं सुख सम्पतिसे परिपूर्ण था। इसलिये वे अपने समयके गौरववान राजा गिने जाते थ। राजा सिद्धार्थ ज्ञात वंशी क्षत्रीय जातिके मुखिया सरदार थे जिनका गोत्र काश्यप था।

संसार सुख भोगते हुए रानी त्रिशला गर्भवती हुई। प्रसव के दिवस जब निकट आने लगे तब एक दिन रात्रि के समय आधी जगी हुई आधी सोई हुई अवस्था में रानी त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे। किसी किसी जैन आम्नायवालोंका कथन है कि रानी त्रिशला ने सोलह स्वप्न देखे। उन शुभ स्वप्नों में से (१) पहले उन्हें एक श्वेत हाथी दिखा (२) दूसरे में वृषभ उनके सामने से निकला (३) तीसरे में एक केशरी (सिंह) देखा (४) चौथे में लक्ष्मी देवी क दर्शन हुए (५) पांचवे में खिले सुगंधित पुष्पों की माल नजर आई (६) छटवें में चन्द्र के दर्शन हुये (७) सातवें में सूर्य दीख पड़ा (८) आठवें में फहराती हुई ध्वजा (९) नवमें में कलश (१०) दशवें में खिले हुए कमलों से भरा हुआ तालाब (११) ग्यारवें में विस्तीर्ण क्षीर सागर अर्थात दूध का समुद्र (१२) बारवें में देव विमान (१३) तेरवें में रत्नोंका ढेर और (१४) चौदवें में उन्होंने निर्धूम जाज्वज्यमान

अग्नि की शिखा देखी। इनमें रत्नजडित सिंहासन और धरणेंद्र का भवन सम्मिलित करने से सोलह स्वप्न हो जाते हैं।

नोट– किसी आम्नाय वालों ने ध्वजा की जगह मछली के जोड़े को माना है।

उक्त कथित स्वप्नों को देखकर रानी त्रिशलाकी नींद खुली। वह अपने स्वप्नोंके फलोंका विचार करने लगी। वह सोचने लगी कि इन शुभ स्वप्नोंके देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अब शीघ्र ही अत्याचारों का अन्त होगा। हिंसा, घृणा और पापाचार दुनिया से उठकर उनके स्थान में अहिंसा, प्रेम और विश्व-शांति का साम्राज्य स्थापित होगा। इसी प्रकार जो भी रानी त्रिशला ने अपने स्वप्नों का फल निश्चित कर लिया था तो भी इन स्वप्नों का संदेह उसने राजा सिद्धार्थ को देना उचित समझा।

प्रात:काल होते ही रानी त्रिशला अपने सदन से राजा सिद्धार्थ के शयनागार में गई और राजा को अपने स्वप्नों का पूर्ण वृतान्त कह सुनाया। राजा स्वयं शास्त्रज्ञ थे। स्वप्नों का वृतान्त सुनते ही उन्होंने रानी त्रिशला के समानही स्वप्नों के फलों का प्रभाव जान लिया था। फिरभी अति पुलकायमानहो शीघ्रही शौच, मुखमार्जन, व्यायाम, विलेपन और स्नानादि से निवृत्त होकर सुन्दर, आभूषण, वसनादिसे सुसज्जित राजा सिद्धार्थ राजसभा में पधारे। फिर उन्होंने स्वप्नशास्त्र विशारद पंडितों को बुला भेजा। राजाज्ञा शिरोधार्य पंडितगण भी राज-सभामें आये। राजाने भी उन्हें आदरपूर्वक योग्यतानुसार आसन दिये। फिर विनयपूर्वक एक के बाद एक पूर्व कथित स्वप्नों का

उनके सम्मुख वर्णन किया और उनसे इन स्वप्नोंका फल निरुपन करने के लिये कहा।

इस प्रकार राजा का सन्देश सुन स्वप्नशास्त्र विशारदों का मुखिया बोला कि राजन्, स्वप्नशास्त्रमें स्वप्नों की संख्या ७२ प्रकारकी बतलाई गई है। उनमें से ३० स्वप्न बहुतही शुभ फलके देने वाले होते हैं इन्ही तीसोंमें से १४ या १६ स्वप्न उस रमणी रत्नको दिखते हैं जिसकी कोखसे किसी तीर्थंकर या चक्रवर्तीकी उत्पत्ति होती है। रानी त्रिशलाको तो उक्त सब स्वप्न एकसाथही दृष्टिगोचर हुए हैं। इससे प्रत्यक्षजान पडता है कि आपके राज्यमें लक्ष्मी और गौरव का निःसंदेह विस्तार होगा। महारानीके गर्भाधानका समय पूर्ण होने पर उनकी कोक्षसे एक महान पराक्रमी सर्वगुण सम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट अथवा तीर्थंकर का जन्म होगा। उससे संसारके अत्याचार एवं अनर्थोंका दीर्घकालके लिये अन्तहो जावेगा। ऐसी महान आत्माके आने से संसार भरमें सुख और शान्तिकी वृद्धि होगी। वह भव्य आत्मा जगत् पूज्य होगी और संसारके संतप्त जीवों को कल्याणका मार्ग बतावेगी।

इस प्रकार स्वप्न विशारदोंके वचन सुनकर राजा और रानी हर्षके मारे मनही मन फूल उठे। पश्चात् उन्होंने स्वप्न पाठकों को आनन्द पूर्वक बहु मूल्य भेंट देकर विदा किया। प्रसवके दिन ज्यों ज्यों निकट आने लगे राजा सिद्धार्थके राज्य में धन, धान्य और राजाका सन्मानभी चारों ओर उत्तरोत्तर बढने लगा।



# भगवान महावीर का

## जन्म

卐

स्वप्न-पाठकों के शुभ वचन सुन हर्षायमान रानी त्रिशला अपने गर्भको भली भांति सम्हाल करने लगी। शास्त्रानुकूल प्रवर्तिमें गर्भाधानकाल सुखपूर्वक बीतने लगा। एक एक दिन गिनते हुए पूरे नौ मास और साढे सात दिन बीत चुके। बस उसी समयमें जगत् की अनुचित प्रवृत्तियों ने कुछ पलटा खाया। दशोंदिशाओं में आनन्द और अनुरागकी लहरें उमड पड़ी। चारों

ओर शीतल मंद और सुगंधित वायुका संचार होने लगा। ऋतु-राज वसंतने प्रकृतिको सुगंधित और स्वादिष्ट पुष्प एवं फलोंसे आच्छादित कर दिया। जिधर देखो उधर आनन्द और हर्ष का साम्राज्य प्रसारित होने लगा। सर्वत्र सुन्दर निमित्त और शुभ शकुन स्वाभाविक प्रवर्तने लगे। ऐसी फूली फली मनोहर आनन्द युक्त वसन्तका वह शुभ दिन ईस्वी सन् ५९९ वर्षके पूर्वका चैत्र मासके शुक्ल पक्षकी तेरसका था। जिस समय चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में था और अन्य ग्रह अनायास उच्च स्थान पर विराज-मानथे उस समय रानी त्रिशलाके गर्भसे सिंह लक्षणवाले, स्वर्णके समान कान्तियुक्त, दिव्यरूप राशि पुत्ररत्नका जन्म हुआ।

जिस रात्रि में भगवान का जन्म हुआ उसी रात्रि में दैविक गतिसे राजा सिद्धार्थके कोष भंडारादि के धन धान्य, वस्त्राभूषणादि में विपुल वृद्धि हुई। दुःखिया प्राणीगण सहसा सुख का अनुभव करने लगे। चौसठ इन्द्र और असंख्य देवी देवताओंने सुमेरुगिरि पर भगवान का जन्म महोत्सव मनाया। दूसरे दिन राजा सिद्धार्थ ने पुत्र जन्मकी खुशीमें दीन गरीव याचकों को ऐच्छिक दान दिया। जिन मन्दिरों में जगह जगह वहुमूल्य द्रव्यादि से पूजा रचाई; वन्दीखानेसे कैदियोंको छुडवाया; नगरमें तोल और माप वढाया और नानाप्रकारके महोत्सव करवाये। तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य दर्शन, छट्ठे दिन रात्रि जागरण और ग्यारवें दिन अशुचिकर्म दूर करवाया। वारवें दिन वारसा महोत्सव करके जाति एवं सगे संवंधियों का भोजन वस्त्राभूषण पुष्पमालादिसे सत्कार किया; और पुत्र जन्मके वाद अपने राज्यमें सर्व प्रकार की अनोखी वृद्धि होनेके कारण अपने पुत्र का नाम श्री वर्द्धमान रखा। तत्पश्चात

श्रीवर्द्धमान ( भगवान महावीर ) दूजके चन्द्रमाके समान वृद्धि पाने लगे ।

नोट—दैविक गतिसे धनकी वृद्धि शास्त्रोंमें इस प्रकार वताई गई है कि जब कभी महान आत्माओं का जन्म होता है तब उनकी पूर्व पुन्याईके योगसे देवता लोग अपनी दैविक शक्ति से जमीनमें गड़ा हुआ तथा ऐसा धन, जिसका कोई मालिक न हो, लाकर उनके कोप या भंडार भर देते हैं ।

## बाल्यावस्था और बल

भगवान महावीर की वाल्यावस्था के विषय मे वहुत कम उल्लेख पाये जाते है । परन्तु कल्पसूत्रादि ग्रंथोंसे जो कुछभी थोड़े वहुत उपलब्ध हैं उससे भगवानकी वाल्यावस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । जब भगवानका जन्म महोत्सव सुमेरू पर्वत पर देवताओंने मनाया था, तथा साढे सात वर्पकी अवस्थामें वालक्रीडा के समय प्रभुने अपने बलका परिचय दिया था उसीका संक्षिप्त वर्णन हम करते हैं ।

भगवानकी दिव्य कान्ति, तप, तेज, उत्तम प्रतिमा और अगाध शक्ति अलौकिकही थी । पूर्वकथित जन्मोत्सव मनाते समय मेरूगिरि पर जब देवता लोग भगवानको क्षीरोदकसे स्नान करा रहेये तव इन्द्रको सन्देह हुआ कि भगवानतो इतने छोटेसे हैं, इतने पानीसे स्नान करानेसे कहीं प्रभु वह न जावें ! तीन ज्ञानके धारी प्रभुने अपने अवधिज्ञानसे इन्द्रके सन्देहको जान लिया । उसका भ्रम निवारण करने के हेतु भगवानने अपने पांव

के अगूंठेसे मेरु पर्वतको किञ्चत् हिला दिला। तबतो एकदम इन्द्रका सन्देद दूर होगया पश्चात् प्रभुके अतुलनीय वल पर मुग्ध हो, भूरि भूरि प्रसंशा करते हुए इन्द्रने भगवान वर्द्धमान का नाम महावीर रख दिया। तवही से भगवान वर्द्धमान महावीर नामसे प्रसिद्धि पाने लगे।

यों तो भगवान महावीर की वाल्यावस्थाके साहस और वीरता की छोटी—मोटी अनेक कौतुकजनक बातें शास्त्रोंमें उपलब्ध हैं; परन्तु हम यहां उनके वलका एक दूसरा उदाहण बतलाना चाहते हैं जिससे यहभी शिक्षा मिलती है कि छल कपट वाले शत्रु को प्रहार करके परास्त करने या दंड देनेमें कोई अन्याय या पाप नहीं।

एक समय ग्रामके कुछ वालक वालक्रीड़ा कर रहे थे। उनका खेल इस प्रकार था कि एक लड़का वृक्षपर चढ़ जाता था और दूसरे लड़के उसे छूने के लिये वृक्षपर चढ़ते जो लड़का उसे छू लेता तब वह लड़का उसकी पीठकर चढ़कर नियमित दूरतक जाता और वहां उसे छोड़ आता था। भगवान महावीरकी अवस्था तब साड़ेसात वर्षकी थी तब वे भी इस खेलमें एक दिन सम्मिलित हुए। जिस समय यह खेल हो रहा था उस समय इन्द्र ने अपनी सभामें भगवानके अतुलनीय वलकी प्रसंशाकी। उसपर एक देव बहुत क्रोधित हुआ और प्रभुके वलकी परिक्षा करने के लिये पूर्णवेगसे वह धरातल पर उतर आया। उस देवने तुरन्त वालरूप धारण किया और उक्त वालक्रीड़ामें प्रभुके साथ शामिल होगया। खेलते—खेलते योगानुयोग भगवान महावीरको उस देवकी पीठपर चढनेकी पारी आई। ज्योंही

भगवान उसकी पीठपर चढ़े त्योंही वह देव भगवानको लेकर पूर्ण वेगसे ताड़के वृक्षके समान ऊपरको उठने लगा। यह कौतुक देख दूसरे बालक भयभीत होकर भागने लगे। तब उसे मायावी कोई कपटी शत्रु समझकर महावीरने एक साधारण मुष्टिका प्रहार उस देवकी पीठपर किया। प्रहार होतेही वह देव तुरन्तही नीचे की ओर धरातल पर झुक गया। यह देख बालकगण वर्द्धमान की प्रसंशा करने लगे और उनका भयभी दूर होगया। भगवानकी मुष्टिके प्रहारसे उस देवका गर्व भी चूर-चूर होगया। उसने तुरन्त अपना असली रूप धारण किया और प्रभुके सामने नत-मस्तक हुआ। पश्चात विनय भाव पूर्ण भगवानसे अपनी धृष्टताकी क्षमा याचना करके वह देव पुनः देवलोकको चला गया। यह घटनाभी भगवान वर्द्धमानके महावीर नामधारी होनेका समर्थन करती है। भगवानके साहस और बलकी अनेक घटनाएं हैं जिससे अनेक अतुलनीय बल और पराक्रमका पता चलता है। पाठकगण अन्यत्र शास्त्रोंमें ऐसी अनेक घटनाओंके विषयमें पढ़ सकते हैं।

नोट– जैन शास्त्रोंमें ऐसी घटनाएं यह सिद्ध करती हैं कि शत्रुको दमन करनेके लिये प्रहारादिसे या ठोक-पीटकर काम लेना कोई अनीति नही है।

## विद्याध्ययन

जब प्रभु महावीर सात वर्ष के हुए तब उनके माता-पिताने उन्हें अध्यापकोंके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा। अध्यापक लोग ज्यों-ज्यों उन्हें पढ़ाते, भगवान उनसे भी आगे पढ़ जाते।

जो कुछ अध्यापक उनसे पूछते, उन सब बातोंका उत्तर महावीर अनायासही दे देते । उपाध्याय लोग जो इनको पढाते थे इनकी अद्वितीय तीव्रबुद्धि देखकर अचंभा करने लगते । अध्यापकोंके प्रश्नों के उत्तर जब महावीर सरलतासे देने लगे तो वे लोग पुनः कठिन से कठिन प्रश्न करना आरंभ करने लगे । परन्तु ज्यों-ज्यों कठिन प्रश्न प्रभुके साम्हने आते त्यों–त्यों महावीर अपने सरल स्वभावसे उनका ठीक ठीक उत्तर दे देते। इस प्रकार अतुलनीय तीव्रबुद्धि इस बालकको देखकर अध्यापकों को कुछ दूसराही आभास होने लगा ।

एकदिन अध्यापक और उपाध्यायोंने मिलकर प्रभु पर सबसे ऊंची कक्षा के प्रश्न करना आरंभ किया । वे प्रश्न इतने कठिन थे कि जिनका उत्तर उपाध्यायभी शीघ्रतासे नहीं दे सकते थे । परन्तु महावीरने तो उन प्रश्नों का उत्तर भी उसी सरलता से प्रथक–प्रथक ठीक–ठीक दे डाला । अबतो अध्यापक और उपाध्यायोंकी आखें खुली और इस बालकके रूपमें उन्होंने किसी महान आत्मा को देखा। ऐसे तीव्र बुद्धि बालकको पाकर अध्यापक और उपाध्याय इस सोचमें पड़ गये कि इस बालकको पढाया क्या जाय। यह तो जो कुछभी तर्क–वितर्क युक्त प्रश्न हो उसका उत्तर अनायासही सही सही दे डालता है ।

इसप्रकार अध्यापक और उपाध्यायोंको चिन्तित देख इन्द्रने ब्राह्मणका रूप लेकर उस विद्यालयमें प्रवेश किया । उसनेभी अध्यापकों और उपाध्यायों पर महत्व भरे शास्त्रीय प्रश्न किये जिनका उत्तर वे लोग तो न दे सके, परन्तु महावीरने उपाध्यायों की आज्ञासे उन सब प्रश्नोंका उत्तर थोड़ेही देरमें न्याय संगत

और युक्तियुक्त रूपसे दे डाला। जिसे देखकर, वहां जो लोग उपस्थित थे, वे हर्षयुक्त आश्चार्यान्वित हो गये और वह ब्राम्हण भी विचार मग्न होगया। फिर उस ब्राम्हणने निम्नलिखित दस विषयोंके प्रश्न और किये जो बहुतही जटिल और पेचीदा थे। मगर राजकुमारने उन सब प्रश्नों को बात की बातमें युक्तियुक्त सुलझा दिया। वे प्रश्न इन विषयोंसे संबध रखते थे। (१) संज्ञा सूत्र (२) परिभाषा सूत्र (३) विधि सूत्र (४) नियम सूत्र (५) प्रतिष्ठा सूत्र (६। अधिकार सूत्र (७) अतिदेश सूत्र (८) अनुवाद सूत्र (९) विभाषा सूत्र और (१०) निपात सूत्र।

कहते हैं भावी भगवान महावीर से निकले हुए इन्हीं प्रश्नों के स्पष्टीकरणने आगे चलकर एक वृहत व्याकरण का रूप धारण किया। यही जैनेन्द्र व्याकरण के नामसे प्रचलित हुआ और फिर इसीका अनुकरण जैनाचार्य मुनि शकटायन और पाणिनीने भी किया।

तत्पश्चात ब्राम्हणरुपी इन्द्रने महावीरकी भूरि भूरि प्रसंशा की और कहाकि यह बालक निकट भविष्यमें संसारमें एक बड़ाही विचित्र महापुरुष सिद्ध होगा। प्रखर बुद्धिमत्ता रखते हुए अभिमान रहित इस बालकके लक्षण ऐसे जान पड़ते हैं कि यह अपनी विद्या और बुद्धिसे संयम, सत्य, त्याग और अहिंसा का सुन्दर पाठ संसारको सिखाकर, दुखी जीवों के तापको मिटाकर, शान्ति का राज्य स्थापित करेगा। इतना कहकर ब्राम्हण तो अपने स्थान की ओर चला गया और उपाध्याय जी राजकुमार महावीरको साथले राजाके पास गये। राजाने उचित सन्मान दे उपाध्यायजी से राजकुमारकी शिक्षाके विषयमें पूछा। उत्तरमें उपाध्यायजी ने

उक्त कथित सम्पूर्ण वृतान्त राजाको आद्यान्त सुनाया। यह सुन राजाभी वहुत अचंभित और हर्षायमान हुये, और उपाध्यायजी को वहुमूल्य पुरस्कार दे पुलकित वदन विदा किया।

## युवावस्था

वालकाल और विद्याध्ययन-काल समाप्त करते हुय युवावस्था का भी आगमन हुआ। इस समय भगवान महावीरके जीवनमें दो प्रकारके हेतु उपस्थित हुए। एक तरफ युवावस्था अपना पूर्ण विकास पाकर खिल रही थी तो दूसरी ओर आत्माभाव तेजीके साथ प्रकाशित हो रहे थे। संसारके मोहक पदार्थोंसे आपका मन हट गया था और विरक्त भावनाएं वढ़ रही थी। इस वातका पता आपके माता पिता और कुटुम्वियोंको भी मालूम पड़ने लगा था। ऐसी अवस्थामें मातापिता पुत्र प्रेमके वशीभूत होकर वर्द्धमानके विवाहका प्रपञ्च रचने लगे।

जैनियोंकी दिगम्वरादि सम्प्रदायें भगवान महावीरको अखंड वालब्रम्हचारी वतलातें हैं। परन्तु श्वेताम्वर आम्नायके कल्प-सूत्रादि ग्रन्थोंमें लिखा है कि भगवान की इच्छा न होने पर भी माता पिता की आज्ञा भंग करना अनुचित समझ उन्होंने महाराज समरवीर की कन्या 'यशोदा' के साथ अपना विवाह किया। (प्रकृतिका नियम है कि पूर्व संचित कर्म भोगे विना छूट नहीं सकते; फिरभी ज्ञानियोंके लिये भोगभी कर्म निर्जराका हेतु होता है) तदनुसार भगवान महावीरको कुछ कालतक गृहस्थावास भी करना पड़ा। आपकी एक 'प्रिय दर्शना' नामकी कन्याभी हुई जो राजकुमार जामाली को ब्याही गई थी।

इस प्रकार संसार सुख भोगते हुए भगवान महावीर जल-कमलवत् संसारमें गृहस्थावास करते रहे। आपका जीवन एक पवित्र योगीकी तरह व्यतीत होता रहा। परम वैरागी होते हुये भी आपने ३० वर्षकी आयुष्य तक दीक्षा न ली। इसका कारण यह था कि अवधिज्ञानसे आपने अपने, ऊपर माता पिता का अतुलनीय मोह देखकर, यह निश्चय कर लिया था कि जबतक माता पिता जीवित रहेंगे तबतक मैं दीक्षा ग्रहण न करूंगा। एतदर्थ गृहस्थावासमें भी आपका जीवन दीक्षित साधुकी तरह ममत्व रहित अवस्थामें बीता।

नोट– तीर्थंकर तो गर्भमें आतेही मति, श्रुति और अवधि ये तीन ज्ञानके धारी होते हैं। इसमें अवधिज्ञान उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा आत्माको अपने तत्कालीन अस्तित्वके समयसे पूर्वका सम्पूर्ण ज्ञान हो।

## दीक्षा

' शुद्धातमरस प्रीतरे, कोई विरला ठाने।
निद्रा मोह कषाय न जामे, पुन्यपाप विपरीतरे ॥ कोई ॥
जामे कर्म शुभाशुभ नाहि, बंधमोक्षकी रीतरे ॥ कोई ॥
दर्शन ज्ञान विकल्प न तामें, शुद्ध चेतना मीतरे ॥ कोई ॥
स्वामी सेवक भेद जान नस, रहतहार न जीतरे ॥ कोई ॥
भयं न हों है होन सिद्ध नाहि, चिन चेतन परतीतरे ॥ कोई ॥
ध्यानहोत मन आन भूल फिर, जगमों होत अभीतरे ॥ कोई ॥"

गो. भ. गान्ना

यह वात पहिलेही वतलादी गई है कि पूज्य मातापिताका अपने ऊपर नितान्त मोह देखकर भगवान महावीरने यह निश्चय कर लिया था कि उनके जीते जी संयम (दीक्षा) गृहण न करूंगा। तदनुसार जव भगवानकी अवस्था २८ वर्ष की हुई तव राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशलाका स्वर्गवास होगया। माता पिताके वियोग से उनके परिवार और विशेषत: भगवान महा-वीरके वड़े भाई नन्दिवर्द्धनको वड़ाही असहनीय दु:ख हुआ। संसारकी जन्म मरण परिणतिका अनुमान कर वैरागी प्रभुने अपने वड़े भाईको वहुत सान्त्वना दी, पर उनके हृदयसे पितृ वियोगकी वेदना दूर न हुई। तिसपर प्रभु महावीरने उन्हें पुन: समझाया वे वोले, 'भाई! संसार में उत्पादन और व्यय होना स्वाभाविक है। जन्म और मरण का दु:ख संसारी जीवोंके साथ अनादिकालसे लगा हुआ है। ज्ञान दृष्टिसे विचार करो और ऐसे उपाय सोचो कि भविष्यमें ऐसे दु:खदाई संवंधही न होने पावे। आत्मिक धर्म क्या है और यह जीव जन्म मरणके दारूण दु:खसे कैसे रहित हो सकता है इसपर विचार कीजिये। संसार की मोहमायामें आत्मा सदैव शान्ति प्रिय है। अशान्तिके कारणों में उलझलकर आत्माको दु:खित करना भारी भूल है। मोह-ममताको मनसे हटाइये और संतोषको धारण कीजिये'। इत्यादि भगवानके वचन सुनकर नन्दिवर्धनको संतोष हुआ।

पश्चात् तत्कालीन क्षत्रियगणों ने मिलकर नन्दिवर्धनको पुरातनपृथानुकूल राजतिलक किया। नन्दिवर्धनका राज्याभिषेक होनेके वाद उनसे स्वामीवर्द्धमानने दीक्षा की आज्ञा मांगी। इसपर वड़े भाई नन्दिबर्धन बोले, "भाई हालही में तो हमारे माता पिता का वियोग हुआ है अभीतो हम उसी दु:खसे पीड़ित हैं।

उसमें जो कुछ संतोष है वह केवल तुम्हारे समीप रहनेसे है। अतः अभी कुछ दिन और ठहरो तथा राजकाज चलानेमें कुछ सहायता करो जिससे परिजनोमें संतोष और प्रजाजनोमें सुखका सञ्चार हो। प्रभु वर्धमानने अपने पिता तुल्य ज्येष्ट बन्धुकी बात मानकर कुछ कालके लिये गृहवासमें ही साधु जीवन विताना आरंभ किया। जब एक वर्ष व्यतीत हो चुका तब लोकान्तिकदेवने आकर भगवान से विन्तीकी कि 'प्रभु! संसारमें अज्ञानान्धकार फैल रहा है। जनता आपमें एक महापुरुष की छविनिहार रही है। लोकमें शान्ति स्थापित करना परम आवश्यक है। इसलिये दीक्षा ग्रहणकर जगतके दुःखी जीवोंको सुखका मार्ग दर्शाइये-इत्या द।'

लोकान्तिकदेवके इस प्रकार वचन सुनकर अपने ज्येष्ट बन्धु नन्दिवर्धनकी आज्ञा से भगवानने एक वर्ष तक नित्यप्रति वर्षा-वर्षीय महादान देना आरंभ किया। एक वर्षमें यह दान करोड़ों मोहरोंका हुआ जिसे पाकर याचकवृन्द भी महान हुए। दान द्वारा इसप्रकार त्याग करना अथवा परिग्रह रहित होना मोक्ष-मार्ग में संलग्न होनेकी पहली सीढ़ी थी।

पश्चात् भगवान महावीरने नरनरेन्द्र तथा देवदेवेन्द्र द्वारा रचित महामहोत्सवपूर्वक अगहन वदी दशमीके दिन स्वयं दीक्षा धारणकी। उसी समय भगवानको चौथा मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ।

नोट– जैन लोग ज्ञानके पांच भेद मानते हैं (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवल ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ अवस्था।

# भीषण प्रतिज्ञा

॥ क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥

भगवान महावीरने जिस दिन दीक्षा ग्रहणकी उसी दिन इस नाशवान शरीर द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मो का वदला क्षमताके साथ शान्ति-पूर्वक चुकानेका अटल निश्चय कर लिया। अतुलनीय वल और प्रखर वुद्धि होते हुएभी उन्होंने ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करली कि "यदि कोईभी देव दानव मनुष्य एवं तिर्यञ्च कितना ही कष्ट क्यों न दे वह सव मुझे सम्यक प्रकार से शान्तिपूर्वक सहन करना होगा।" क्योंकि ऐसा करने से ही दुष्ट कर्मोंका नाश होकर सच्चे सुखकी प्राप्ति होगी। इसप्रकार प्रतिज्ञा करने के वाद भयंकर से भयंकर कष्ट एवं उपसर्ग आने पर भी मन, वचन और काया से क्षमापूर्वक शान्तिके साथ उसे सहन करनाही भगवानका एकमात्र ध्येय हो गया। पाठकगण देखेंगे कि अवतो भगवानके पौदगलिक (जड़) राज्यमें दण्डों का विधान और पापियों से घृणाका अन्त हो गया, और उनकी जगह घोरसे घोर अपराधके लिये इस आत्मशासनमें केवल क्षमा और उसीके द्वारा पश्चाताप करके पापोंके प्रक्षालनका विधान वन गया।

प्राणीमात्र को अपनाअपना जीवन प्रिय है, चाहे वह छोटा हो या वड़ा। इस संसार में प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है। किसी भी जीवको किसी तरहका कष्ट पहुंचाना अधर्म है। सव जीव अपने-अपने जीवनमें जीवित रहनेका समान अधिकार रखते हैं। सवही सुखकी वाञ्च्छा करते हैं। अतः उन्हें मन, वचन अथवा कायासे दुःखी करना महान पापका कारण है। ऐसी उच्च कोटि की साम्य भावना प्रभुके हृदय में जाग्रत होगई।

पहले प्रभुकी असाधारण विद्या, अलौकिक प्रतिभा और प्रचंड वीरताका उपयोग राजकाज संचालनमें होता था परन्तु अब उन्हीं शक्तियोंका सदुपयोग जगतकी स्थिति, हित और उत्थानमें होगा। संसारकी दसों–दिशाओंमें अब समता उनकी साथिन बनेगी।

जब प्रभुने दीक्षा धारणकी उस समय भगवानके शरीरपर इन्द्रने जो वस्त्र रखाथा वह केवल एक वर्ष तक रहा। बादमें भगवान महावीर दिगम्बर अवस्थामें स्वतंत्र विहार करने लगे। परन्तु अपूर्व अतिशयके कारणवे किसीको नग्न नहीं दिखते थे। उनका दृश्यही अलौकिक था।

अब उक्त कथित निश्चय को पूर्णरूपसे पालन करनेके लिये भगवानने द्रव्य और भावसे प्रायः मौनव्रतको ही धारण किया। जब तक प्रभुकी छद्मस्थ अवस्था रही तब तक अनेक प्रकारके कष्ट सहते हुए प्रभुने इसी व्रतका पालन किया। यह छद्मस्थ अवस्था लगभग बारह वर्ष पर्यंत रही।

नोट– केवल ज्ञान प्रगट होनेके पूर्वकी अवस्था छद्मस्थ अवस्था कहलाती है। तीर्थंकरोके जीवनमें और दृश्यमें कुछ अलौकिक विशेषताएं होती है जिन्हें उनका अतिशय कहा जाता है।

## प्रथम विहार और उपसर्ग

लक्ष्मी की परवाह न रखते, भले बुरेका ख्याल नहीं।
मृत्यु खड़ी दरवाजे पर हो, तो भी डरका काम नहीं॥
लालच, भयके चक्र जिन्होंपर, चलते निशदिन जहां कहीं।
तो भी न्याय मार्गसे विचलित, होते हैं नर वीर नहीं॥

दीक्षाके बाद भगवान महावीरका बारह वर्षका जीवन उग्र तपस्याका जीवन था। इन बारह वर्षोंमें भगवान महावीरको जिन-जिन संकटोंका सामना करना पड़ा उन्हें पढ़कर आत्मा कंपायमान हो जाती है, हृदय विदीर्णसा बन जाता है; धैर्य छूट जाता है और महाविकराल भयंकर क्रूरता का नग्न दृश्य सामने आ जाता है। परन्तु भगवान के उत्कट बल, साहस और आगाध सहनशक्ति के सामने वे सब संकट ऐसे फीके पड़ जाते हैं कि जैसे सूर्यके पूर्ण प्रकाशके सामने चन्द्रका तेज उदास मालूम होने लगता है।

भगवान महावीर को अब अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंका कर्ज चुकाना है। कर्ज चुकाने लिये जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने साहूकारों को एकत्रित करता है और वे सब अपना अपना कर्ज वसूल करने को आकर खड़े हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार भगवानभी अप पूर्वोपार्जित कर्मोंका कर्ज चुकाने को अपने पेरों पर खड़े हुए हैं। पाठकगण देखेंगे कि किस प्रकार भगवान इन भयंकर उपसर्गोंका बदला अपूर्व क्षमा, शांति, अहिंसा, सहिष्णुता, त्याग और संयम के साथ चुक ते हैं और उनपर विजय प्राप्त करते हैं। ऐसा अद्वितीय उदाहरण एवं आदर्श संसार में शायदही अन्यत्र मिल सकेगा।

भगवानकी दीक्षा महोत्सवके समय चंदनादि उत्तमोत्तम सुगंधित पदार्थोंका जो लेप हुआ था उसकी सुगन्धसे भौंरे मस्त होकर दशों दिशाओंसे आकर भगवानके शरीर पर बैठने लगे और उसका रसपान करने लगे। यहां तक कि उस सुगन्धिके समाप्त होते तक उन भ्रमरोंने भगवानके शरीरका रक्त और मांस चूसना और नोचना आरंभ कर दिया। उस समयकी वेदना महान

दु:खदायक और अवर्णनीय थी परन्तु धीर गंभीर भगवान ने उसे हँसते हँसते हर्ष एवं शान्तिपूर्वक सहन करली।

दूसरी ओर वनदेवियां भी उसी विलेपन की महक से उसी स्थान पर पहुँची जहाँ प्रभु महावीर थे। वे भी प्रभु के लावण्यमय शरीर में उठती हुई तरुणाई को और प्रेम भरी चितवन को निहार-कर मोहित हो गई और उन्हें अपने मोहजाल में फसाने के लिए अनेक प्रकार के लुभाने वाले हाव भाव दिखलाने लगी। परन्तु जिस प्रकार फूल की पंखुरियाँ हीरे को वेध नहीं सकती उसी प्रकार वनदेवियां भी प्रभु के पवित्र सुन्दर भावों पर रंच मात्र भी असर न कर सकी। प्रभु अपने निश्चय में मेरुपर्वत के समान अटल रहे।

ऐसी अनोखी वैराग्य मुद्रा का उन युवतियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे लज्जित हो अपने सौन्दर्य के प्रति ग्लानि करने लग गई। उनके रूप लावण्य युक्त देहाभिमान चूर - चूर हो गया और उसी क्षण उनमें शुभभावनाओं का संचार होने लगा। सच है पारस की संगति में लोहा भी सोना बन जाता है।

इस प्रकार उन शान्ति मूर्ति भगवान ने दोनों उपसर्गों को समभाव से सहन किया। अर्थात मांस तक काटने वाले भ्रमरों पर किसी तरह का द्वेष नहीं और मन को लुभाने वाली देवियों के हावभाव पर राग नहीं किया। यही भगवान महावीर की अनुपम सहिष्णुता एवं वीरता का आदर्श नमूना है।

इस तरह मार्ग में उपसर्गों का सामना करते करते जब दो घड़ी दिन रह गया तब प्रभु ने कुमार गाँव के निकट एकान्त स्थान में ठहरने का निश्चय किया और वहीं जाकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर ध्यान में खड़े हो गये।

नोट— जैन योग शास्त्र में शुक्ल ध्यान ध्याते समय कार्यो-त्सर्ग (काउस्सग्ग) करते समय दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित किया जाता है पश्चात ध्यान मग्न होते हैं ।

## ग्वालों की क्रूरता

कुमार गांव के एकांत स्थान में जब भगवान खड़े खड़े ध्यान में मग्न थे उस समय एकाएक कुछ ग्वाले अपने बैलों को चराने के लिए वहाँ निकल आये। थोड़ी देर के बाद ग्वालों को कुछ काम के लिए वहाँ से अन्यत्र जाना पड़ा। उन्होंने विचार किया कि यह मुनि यहाँ खड़ा खड़ा अपने बैलों को देखता रहेगा। इसे जताकर अपन लोग अपना कार्य कर आवें। ऐसा सोचकर उन्होंने प्रभु को जतलाकर बैलों को वहीं चरते हुए छोड़ दिया और अपने कार्य के लिए चले गये। परन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे। उन्हें तो किसी भी बात का प्रयोजन न था। कुछ देर के बाद बैल वहाँ से चरते चरते इधर-उधर चल दिए। पश्चात ग्वाले अपना काम करके लौटे और वहाँ आकर देखा तो उन्हें बैल नहीं दिखे। तब तो उन्होंने बैलों को ढूंढना आरम्भ किया। बहुत देर तक ढूढ़ने के बाद जब बैल उन्हें नहीं मिले तो वे क्रोधित हो हताश से हो गए और वहाँ आये जहाँ प्रभु महावीर ध्यानमग्न खड़े हुए थे। वहां आकर देखा तो बैल प्रभु के पास ही चर रहे थे। इस पर ग्वालों को बहुत संदेह हुआ। वे सोचने लगे कि हो न हो इसी ध्यानी पुरुष ने हमको इतना त्रास दिया। यह चोर भी हो सकता है क्योंकि यदि हम इतनी खोज अथवा जाँच पड़ताल न करते तो सम्भव है कि यह हमारे बैलों को चुरा ले जाता। इसलिए इसे मारकूटकर यहां से भगा देना

चाहिए नहीं तो ये कुछ और ऐसे उपद्रव करेगा। ऐसा विचारकर ग्वालों के पास जो रस्सी थी उससे उन्होंने भगवान को निर्दयता पूर्ण सड़ा - सड़ मारना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु भगवान अपने ध्यान से किञ्चित भी विचलित न हुए। ग्वालों की भी भीभत्स क्रूरता को भी उन्होंने अपने पूर्वोपार्जित कर्मो के फलों की अदाई का सस्ता और सरल सौदा समझा।

भगवान के साथ जब यह भीषण कांड हो रहा था तब इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से मालूम किया कि थोड़ा ही समय हुआ है। प्रभु ने दीक्षा धारण की है और आज इतना भयंकर उपसर्ग हो रहा है; कुछ भी हो इस समय भगवान की रक्षा करना परम आवश्यक है। ऐसा विचारकर शीघ्रातिशीघ्र इन्द्र उस स्थान पर आये और ग्वालों को उनके दुर्व्यवहार से रोका और उन्हें वहाँ से भगा दिया। तदनन्तर प्रभु का ध्यान समाप्त हुआ तब इन्द्र ने उन्हें विनयपूर्वक नमन कर नम्र भाव से प्रार्थना की कि "प्रभु ! अभी तो दीक्षा का थोड़ा सा समय बीता है, अभी बारा वर्ष और बिताना है। इतने समय में न मालूम कैसे कैसे भयंकर उपसर्ग आवेंगे। अभी से शरीर की ऐसी दशा हो रही है इसी शरीर द्वारा तो जगत का कल्याण होने वाला है। अतः आज्ञा दीजिए तो हम सेवक के रूप में आपके शरीर रक्षक बनकर आपके साथ रह सकें।"

इस पर प्रभु ने बड़े ही शान्त और प्रसन्न वदन हो इन्द्र को उत्तर दिया "देवराज ! ऐसा कभी हुआ न होगा, कर्मो का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। जो तीर्थंकर होते हैं वे दूसरों की सहायता कभी नहीं चाहते। वे अपनी ही प्रतिभा से, अपनी ही आत्मा की अनन्त शक्ति द्वारा समस्त बाधाओं एवं परिसहों का

धैर्य और गम्भीरता से सामना करते हैं और शान्ति के साथ उन्हें सहते हैं। वे अपनी ही आत्मा के विकास पर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं चाहे उनका यह सौदा कितना ही मंहगा क्यों न हो। शकेन्द्र ! इस कथन में न तो अभिमान का आभास है और न आपकी सहायता की अवहेलना ही है।"

यह सुनकर इन्द्र ने मन ही मन भगवानके स्वालम्बन की प्रसंशा की और उन्हें नमन कर अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। परन्तु भगवान के इतना कहने पर भी स्वस्थान को जाने के पूर्व इन्द्र ने सिद्धार्थ नामक देव को भगवान पर उपसर्गों को रोकने के लिए वहाँ रक्षक रूप में रख ही दिया। उधर भगवान भी अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए पुनः ध्यान मग्न हो गये।

नोट– महान आत्माओं के पुण्य के प्रभाव से इन्द्रादिक देव भी प्रवाभित होकर उनकी सेवा के लिए तत्पर हो जाते हैं ऐसा जैन शास्त्रों का कथन है इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

## प्रथम चतुर्मास

भगवान महावीर की छद्मस्थ अवस्था की अवधि बारह वर्ष की थी। भगवान पर इन बारह वर्षों में भयंकर उपसर्ग हुए पर हम यहाँ उनमें से कुछ मुख्य मुख्य उपसर्गों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

प्रभु महावीर का प्रथम चतुर्मास मोराकसन्निवेश में हुआ वर्षा ऋतु के आरम्भ होते ही प्रभु ने मोराकसन्निवेश में दुइजन्त नामक एक तापस के आश्रम में अपना निवास आरम्भ

किया उस आश्रम का कुलपति प्रभु के पिता का मित्र था। इस आश्रम में और भी अनेक तपस्वी रहते थे। परन्तु आश्रम के जिस स्थान में प्रभु ठहरे थे वहाँ वे सदैव ध्यान मग्न रहकर ही रात दिन विताते थे यहाँ तक कि उस स्थान के आसपास इतनी घास ऊग गई थी कि वहाँ आश्रम की गौएं आकर चरती और उसे तहस नहस करती तोभी ध्यानस्थ प्रभु उसकी कुछ भी परवाह न करते। इस तरह वह स्थान दिन व दिन नष्ट होने लगा उसे देख दूसरे ईर्षालु तपस्वी कुलपति से प्रभु की शिकायत करने लगे कि न मालूम यह कैसा तपस्वी है कि अपने स्थान के आसपास की परवाह तक भी नहीं करता और न उसे साफ स्वच्छ रखता है। यह वहुत कायर मालूम होता है ऐसा तापस आश्रम में नहीं होना चाहिए; इत्यादि।

तपस्वियों के वचन सुनकर कुलपति भी उनकी वातों में आ गये और जहां पर प्रभु ध्यान करते वहाँ आकर उन्हें कुछ वातें सुनाई। परन्तु क्षमाशील प्रभु ने कुलपति की सव वातें प्रसन्न वदन सुनली और उनके प्रति जरा भी रोष न लाया। परन्तु लोक मर्यादा और साधु मार्ग में प्रवृत होने वाले लोगों की रक्षा के लिए उनके मन में एक विचार उत्पन्न हुआ। इस विचारके उत्पन्न होते ही प्रभु ने उसी समय निम्नलिखित पाँच प्रतिज्ञाएं कर वहां से अन्यत्र चल देने का निश्चय कर लिया वे पाँच प्रतिज्ञाएं इस प्रकार थी–

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी न ठहरना.
(२) प्राय: मौनवृत में ही रहना.
(३) कहीं भी रहें कायोत्सर्ग ही धारण कर रहना.
(४) अंजली ही को पात्र मान उसी में आहार करना.

(५) गृहस्थ से विनय न करना अर्थात दीनवृत्ति न दिखाना ।

ऐसी कड़ी प्रतिज्ञाएं कर वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही भगवान ने उस आश्रम से एकदम विहार कर दिया और आस्थिक ग्राम में पधार गये ।

इस आस्थिक गाँव में शूलपाणि नामक एक यक्ष रहता था, जो गाँव के जीवधारियों को मारकर खाया करता और उनकी हड्डियों के ढेर लगाया करता था; जिससे उस गाँव का नाम आस्थिक गाँव अर्थात हड्डियों का गाँव पड़ गया था। गांव के कुछ मनुष्यों ने उस यक्ष को खुश रखने का प्रयत्न कर रक्खा था जिसके द्वारा उस नरभक्षी यक्ष से उनकी रक्षा हो सके। गाँव में प्रभु ने यह बात सुनकर उस यक्ष के यक्षालय में ही ठहरने की अभिलाषा प्रकट की। इस पर लोगों ने प्रभु से प्रार्थना की कि 'स्वामिन् उस यक्ष के समीप निवास करना उचित नहीं, क्योंकि उसके पास जाकर प्राण बचाना कठिन है। इसलिए हम लोगों की प्रार्थना है कि आप वहाँ जाने का और ठहरने का विचार त्याग दीजिये। परन्तु भगवान उस यक्ष के भय से कब भयभीत होने वाले थे।

प्रभु वहां से चलकर शूलपाणि के यक्षालय में जा पहुँचे और उसके एक कोने में रहने का विचार कर लिया और ध्यान करने लगे। रात्रि का समय होने लगा, कालिमा चारों ओर छा गई; परन्तु मौनवृती प्रभु अपने कायोत्सर्ग ध्यान में ज्यों के त्यों ही अचल खड़े रहे। रात्रि के नियत समय पर वह यक्ष वहां आया। तपस्वी भेष में प्रभु को अपने यक्षालय में देख उसके क्रोध की सीमा

न रही। उसी समय उसने एक भयंकर गर्जना की, जिससे आसपास के पशु पक्षी घबरा गये परन्तु भगवान जराभी चल-विचल न हुए। पश्चात उसने एक बड़ा डरावना रूप बनाकर भगवान को भांति - भांतिसे डराना शुरु किया. किन्तु वीर प्रभु पर उसका कुछ भी असर न हुआ। तीसरी वार उसने एक विकराल सर्प का रूप धारण किया और जोर-जोरसे फुंफकारता हुआ भगवान को जगह-जगह डसना शुरु कर दिया, पर अटूट आत्मबल और घोर तपोवल के प्रभाव से प्रभु का कुछ भी न विगड़ा वल्कि उनकी मुख मुद्रा पर निर्भयता और आनन्द प्रभा दुगनी झलक उठी।

सिद्धार्थ व्यन्तर देव यह सब हाल देख ही रहा था; वह तुरन्त यक्ष के पास आया और उससे कहने लगा कि 'अरे! अरे! तूने यह क्या उपद्रव मचा रक्खा है; तू नहीं जानता कि इन्द्र महाराज भी इन्हें अपना पूज्य मानते हैं और इन्हें नमन करते हैं। तूने इनके मुखचन्द्र से भी न पहचाना किये तो जगत्पूज्य आत्मा हैं। दूसरे तो तेरे डर से दूर भागते हैं पर ये खुद आकर तेरे यक्षालय में ठहरे हैं, इसी से तुझे मालूम कर लेना था कि ये अवश्य कोई अपूर्व बलधारी आत्मा हैं। चल चल यहां से दूर हो इत्यादि"

यक्ष तो अपनी अनीति और अत्याचारों का प्रभु पर कुछ भी असर न देख मन ही मन कायल हो ही रहा था, तिस पर सिद्धार्थ व्यन्तर देव के कथन से तो उसकी क्रूरता विलकुल ही विलीन हो गई। वह मन ही मन पछताने लगा और प्रभु से अपने दुष्कृत्यों की वार वार क्षमायचना करने पर तत्पर हो गया।

आत्मशक्ति ने राक्षसी शक्ति पर विजय पाई। वह यक्ष अपने क्रूर कर्मों की निन्दा करने लगा। वह प्रभु के चरणों में आकर गिर पड़ा और नानाविधि से अपने पूर्व कृत्यों पर पश्चाताप करने लगा। प्रभु के तपोबल एवं आत्मशक्ति ने यक्ष की काया पलट करदी। वह उसी समय से सम्यक्त्वी वन प्रभु की उपासना में लग गया।

## चण्डकौशिक सर्प की सद्गति

भगवान महावीर वाचाल सन्निवेश से विहार करके ज्यों ही श्वेताम्वरी नगरी की ओर रवाना हुए त्यों ही मार्ग की एक भयानक अटवी में एक ग्वाल से उनकी भेंट हुई। भगवान की अनुपम शान्ति और गम्भीर शारीरिक स्थिति को देख उस ग्वाल ने पूछा 'प्रभु आप किस ओर पधार रहे हैं ?'

प्रभु ने उत्तर दिया— 'श्वेताम्वरी की ओर'। इस पर उस ग्वाल ने विनय पूर्वक भगवान से विन्ती की कि 'स्वामिन्' श्वेताम्बरी का यह मार्ग तो बिलकुल सीधा है परन्तु इस मार्ग में बहुत बड़ा भय है। इस रास्ते में एक बहुत ही भयानक दृष्टिविषवाला 'चंडकौशिक' नामक सर्प रहता है जिसकी दृष्टिमात्र से मनुष्य तो क्या उससे भी बड़े बड़े विशाल प्राणी भी नहीं ठहर सकते। यदि कोई अकस्मात वहां जा निकले तो वह शीघ्र ही भस्मीभूत हो जाता है। अतः आप कृपाकर दूसरे अन्य मार्ग से श्वेताम्बरी को पधारे तो अच्छा हो।

भगवान महावीर तो एक नितान्त निर्भय आत्मा थे। वे इस ग्वाल की भयोत्पादक वातों से बिलकुल ही विचलित न हुए और

उन्होंने उसी मार्ग से जाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने सोचा कि उस सर्प के अन्दर इतनी भारी शक्ति है और वह उसका दुरुपयोग कर रहा है यदि उसे किसी तरह बोध हो जावे तो वह उसी शक्ति द्वारा सदुपयोग करके अपना कल्याण भी कर सकता है। क्योंकि शक्ति तो आत्माका निजगुण है। जिस शक्ति से जीव घोर नर्कको नीव डालता है उसी शक्ति द्वारा वह मोक्षभी प्राप्त कर सकता। ऐसा विचारकर भगवान उसी सर्प की ओर रवाना हो गये और उसकी वामी पर जाकर ध्यान लगा दिया।

भगवान को ध्यान लगाये जब कुछ समय बीत चुका तब वह सर्प भी अपनी वामी से बाहर निकला। वहां से बाहर निकलते ही उसकी दृष्टि ध्यानस्थ प्रभु पर पड़ी। बस उसके क्रोध की सीमा न रही। वह क्रोध से ज्वालामय होकर सोचने लगा कि 'मेरे इस निर्जन शांत राज्य में जहां हिंसक जानवरों तकको प्रवेश करने की हिम्मत नहीं होती वहां इस निर्भीक अचल मनुष्यको खड़े रहनेका साहस कैसे हुआ ?" बस, इतना सोचकर उसने ऐसी भयंकर विषभरी फुंफकार छोड़ी कि उस जंगल में सर्वत्र विष की चिनगारियां फैल गई और चारों ओर नील वर्णकी आभा छा गई। उससे दूर दूर तक बचेकुचे जीवजन्तु भस्म हो गये। परन्तु भगवान पर उसका कुछ असर न पड़ा। तब तो वह क्रोध के मारे और भी आगबबूला हो गया और पूर्ण वेग से लपककर उसने भगवान के पैर के एक अंगूठे को जोरसे डस लिया। तब भी भगवान पहले के समान ही अटल और ध्रुव की तरह अचल ध्यान मग्न खड़े के खड़े रहे। उन्हें सर्पकी फुंफकार और काटने का कुछ ध्यान ही

न था। तब तो सर्प को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले तो उसे अपने विषप्रयोग का भारी गर्व था, परन्तु भगवान को बिलकुल स्वस्थ और शांत रूप में खड़ा हुआ देख उसका सारा गर्व चूर-चूर हो गया। फिर भी उसने अपनी शक्ति की एक बार और परीक्षा की। उसने अबकी बार लपक-लपकर भगवान के शरीर में इधर-उधर पूर्ण वेगसे काटकर उन्हें धराशायी करना चाहा। परन्तु आत्मबल के सामने उसे इस बार भी पूर्ववत विफलता ही मिली।

अबतो सर्प टकटकी लगाकर प्रभुके तरफ देखने लगा। इतने कड़े उपसर्ग के बाद भी उसने प्रभुके मुख मंडल पर शांति क्षमा और दया की उज्वल ज्योति ही देखी। इस अनोखे दृश्य को देखते ही सर्प तो मुग्धसा बन गया। उसके मन के परिणाम आपसे आप बदलने लगे। उसका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल होने लगा जैसे-जैसे वह भगवान को निहारता वैसे-वैसे उसकी विषमयी क्रुरता विलीन और मनके परिणाम शुद्ध होकर उत्तम उत्तम भावनाएं जाग्रत होने लगी। अब सर्प की आत्माने पलटा खाया। बस उसका यही दृष्टिकोण तो भगवान को अपनी आत्मशक्ति से पलटाना था कि सर्प ने आत्मकल्याण की ओर दृष्टि फेरी।

जब भगवान की ध्यान मुद्रा खुली तब वे बोले 'रे चण्ड' कौशिक! समझ! समझ! तू अपने पूर्व भवको स्मरण कर और इस भव में की हुई भूलो पर पश्चाताप कर। सोच तू कौन है, कहांसे आया है और क्या कर रहा हैं? इत्यादि भगवान के शान्ति मय वचन सुनते ही उसे 'जाति स्मरण' ज्ञान उत्पन्न हो गया जिसके आधारसे उसे अपने पूर्वभवका स्मरण हो आया। उसने

देखा कि अहो! ! ! मोक्ष की साधना के हेतु बना हुआ पूर्वभवका साधु, मैं क्रोध के कारण कर्म बांधकर 'चण्ड कौशिक' सर्प हुआ हूं। फिर भी इस समय महाक्रोध कर अनेक जीवों के प्राण हर रहा हूं और त्रास दे रहा हूं। इतनाही नहीं जगत्पूज्य करुणासागर भगवान को भी मैंने निर्दयतासे डसा है। न जाने अब मेरी क्या गति होगी। बस अब तो उसकी शक्ति ने पूर्णरूप से पलटा खाई। सर्प पहिले जितना उग्र क्रोधी था, आजसे उतनाही शान्तताकी मूर्ति बन गया, मानो एक मोक्षाभिलाषी आत्मा ने वैराग्य मुद्राको धारण किया हो। सर्प ने अनशन करना आरंभ कर दिया और अपने आयुष्य कर्म को पूर्णकर आठवें स्वर्ग को प्राप्त किया। पाठक गण! जिस सर्प को भगवान की शान्त मुद्रा ने आठवें स्वर्ग का स्वामी बनाया यही तो प्रभु की प्रभुता है जहां उत्तम क्षमा, शान्ति, सत्य और अहिंसा का प्रचण्ड प्रभाव मूर्तिमान हो कर दृष्टिगोचर होता है।

नोट– जड़वादी लोग विषैले सर्प के काटने और फिर भी जीवित रह जाने में सहसा विश्वास नहीं कर सकते। परन्तु आज भी देखा जाता है कि मंत्रादि क्रिया के प्रभाव से बड़े बड़े भयंकर सर्प बस में किये जाते हैं। मंत्रादि शब्द जड़रूप होने पर भी इतना प्रभाव रखते हैं तब आत्म शक्ति के प्रभाव में तो अपूर्व बल भरा हुआ है तिस पर महानयोगी के शरीर पर विष का असर न हो यह स्वभाविक अर्थात अतिशयोक्ति-रहित है। इस पाठ में क्षमा की सुन्दर विजय का दिग्दर्शन कितना शिक्षाप्रद है।

# सुदृष्टदेव का उपसर्ग

## पूर्वभव का वदला

अनेकोनेक स्थान में विहार करते हुए एक दिन भगवान सुरभीपुर की ओर पधार रहे थे। मार्ग में गंगा नदी पार करके सुरभीपुर जाना पड़ता था। जव भगवान गंगा नदी के किनारे पहुँचे तो मल्लाह की दृष्टि उनके शान्त और मनोहर मुख मंडल पर पड़ी। वह ऐसी छवि देखकर एकदम प्रसन्न हो उठा और भगवान से विन्ती करने लगा कि 'प्रभु ! आप नाव पर पधारिये मैं आपको उस पार उतारकर अपने को कृतकृत्त सम-झूंगा। भगवान ने उसकी प्रेमसनी वाणी स्वीकार करली और नाव पर सवार हो गये। मल्लाह ने नाव खेना आरंभ कर दिया।

इधर गंगा नदी के किनारे एक 'सुदृष्ट नामक' देव रहता था वह पूर्वभव में एक सिंह की योनि में था। वह सिंह विना कारण ही पूर्वभव में 'त्रिपृष्ट वासुदेव' नामक शरीर धारी भगवान महावीर द्वारा शिकार हो गया था। उसे इस समय भगवान से अपने पूर्वभव का बदला लेनेकी सूझी। वह मन ही मन सोचने लगा कि 'अपने बलके गर्व में आकर इन्होंने निष्कारण ही मेरा वध किया था, अतः इस अवसर पर इनसे वदला लेना अच्छा है अब मैं भी इन्हें जीवित न रहने दूंगा।' कर्म की सत्ता सबसे बलवान होती है। जो जैसे कर्म करता है उसे उसका वदला अवश्य चुकाना पड़ता है। कर्म की इस सत्ता के आधीन होकर कोई भी कर्जदार अपना कर्जा चुकाए विना ऋण मुक्त नहीं हो सकता, चाहे वह राजा हो अथवा रंक ऊंचहो या नीच, तीर्थंकर हो या अवतार-कर्म अपनी शासन सत्ता एकसी चलाते है)।

इतना विचार मन में आतेही वह सुदृष्ट देव अपना बदला लेने को उस नाव पर लपका। उसने नाव के पास जाकर एक भयंकर गर्जना की। उस गर्जना से जितने मनुष्य नाव में बैठे हुए थे, वे सब भयभीत हो गये किन्तु भगवान महावीर ज्योंके त्यों धैर्यता से बैठे रहे फिर वह देव भगवान को सम्बोधन कर बोला 'कि अरे तू अब अपने पूर्वजन्म का खाता चुका; अब मेरे चुंगल से तू जिन्दा नहीं बच सकता; तूने भी बिना कारण मेरे प्राण लिये थे सो अब तू भी अपने प्राण देने को तैयार हो जा।'

इतना कहकर उसने अपनी मायासे एक बड़े वेग की आंधी छोड़ी। पानी की लहरें जोर-जोर से उछाल लेने लगी। झाड़ टूट-टूट कर गिरने लगे। नाव बीच नदी में भयंकरता से ऊपर नीचे जाने लगी। मल्लाह ने भी घबराकर अपनी पतवार छोड़ दी। पानी की भीषण भर्राहट से सबके होशहवाश उड़ गये। नाव के डूब जाने में कोई भी कसर नहीं दिखती थी। परंतु इतनी भयंकरता का दृश्य देखते हुए भी भगवान महावीर जरा भी न घबराये। प्रभुका अलौकिक साहस और धैर्य देखकर सबके सब अपनी करुण दृष्टि उन्हीं की तरफ लगाये अपने अपने इष्ट देव को याद करने लगे।

इस भयभीत दृश्य को सम्बल और कम्बल नाम के देवभी देख रहे थे। ये देवभी उसी जाति के थे जिस जाति का सुदृष्ट था। भगवान पर यह आपत्ति देख ये देव तुरन्त प्रभुके पास आये और सुदृष्ट को मार भगाया और उसकी कुल माया दूर कर दी। तबतो सबके जीव में शान्ति आयी। नाव भी पार लग गई और सब लोग प्रभु के प्रभाव की प्रसंशा करते हुए नाव से पार उतरे।

# गोशाला

मंखली नामक एक चित्रपट दिखाने वाला और उसकी गर्भवती स्त्री एक समय शखण ग्राम में पहुंचकर वहल नाम के ब्राम्हण की गोशाला में ठहरे। वहां उसकी गर्भवती स्त्री को पुत्र पैदा हुआ। वह वालक गोशाला में जन्मा था इसलिये उसके माता पिता ने उसका नाम गोशाला रख दिया। समय पाकर गोशाला बड़ा हुआ। उसने भी अपने पिता का धंधा करना आरंभ किया। गौशाला वहुतही चालाक और विचित्र स्वभाव वाला था। थोड़े दिन के वाद ही वह अपने माता-पिता से अलग हो गया और अपनी आजीविका चलाने लगा। एक दिन गांव गांव फिरते फिरते वह राजगृह में आ निकला वहीं भगवान भी विराजमान थे। इस समय भगवान की तपस्या का एक मास पूरा हुआ था और दूसरा दिन पारणे का था। दूसरे दिन पारणे के लिए भगवान आहार निमित्त रवाना हुए। प्रभु को भिक्षार्थ आये हुए देख विजय सेठ ने श्रद्धा और सत्कार के साथ भगवान को निरवद्य आहार दान दिया। आहार लेते ही देवताओं ने वहाँ कनक रत्नादि पाँच द्रव्यों की वर्षा की यह समाचार विजली की तरह सारे शहर में फैल गया। गोशाला ने भी यह वात सुनी। वह उसी समय भगवान को ढूंढता हुआ विजय सेठ के यहाँ आया और उक्त कथित पूर्ण वृतान्त सचाई के साथ अपनी आँखों देखा। वह सोचने लगा कि 'यह भिक्षुक साधारण भिक्षुक के समान नहीं है; यह कोई पहुँचा हुआ महापुरुष है। अगर मैं भी इसका शिष्य हो जाऊँ तो कभी न कभी मेरा भी भाग्य उदय हो जायगा'। ऐसा मन में ठानकर वह गोशाला प्रभु के सम्मुख आया और भगवान के विना 'हां' व 'ना' कहे ही वह

अपने को भगवान का शिष्य समझने लगा। उसी समय से वह अपनी आजीविका भिक्षावृत्ति से करने लगा।

भगवान का दूसरा मासक्षमण का पारणा आनन्द श्रावक के यहां और तीसरा सुदर्शन सेठ के यहां हुआ उनमें भी पूर्ववत पांच द्रव्यों की वर्षा देवताओं ने की।

भगवान के चौथे मासक्षमण के पारणे का दिन कार्तिक शुक्ल पौणिमा समीप आया। उस समय शंकित हृदय गोशाला ने भगवान के ज्ञान की परीक्षा की। उसने भगवानसे पूछा 'भगवन्! आज घर-घर में वार्षिक महोत्सव बड़े धूमधामसे मनाया जावेगा, अतः आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा?' भगवान को तो अच्छा और बुरे का कोई भान न था। तथा साधु के लिये क्या अच्छा क्या बुरा सब बराबरही है। जैसा भोजन मिला उसी में संतोष चाहे रूखा हो चाहे सूखा हो मगर निरवद्य चाहिये। फिर भी भगवान ने उसे उत्तर दिया कि आज तो तुझे सड़ा भोजन मिलना चाहिये। भगवान के इन वचनों को सुन गोशला ने कुछ उपेक्षा की और भिक्षा के लिये चल दिया। दिन भर घूमने के बाद जब उसे किसीने भोजन न दिया तो शामके समय एक ग्रहस्थ ने उसे पुकारकर बासी सड़ा हुआ भोजन दिया भुकके मारे उसने उसी भोजन से संतोष पाया और भगवान के वचनोंमें शंका करके मन ही मन पछताने लगा।

चौथे मासक्षमणके पूर्ण हो जाने पर जब गोशाला भिक्षार्थ बस्तीमें गया हुआ था तब भगवानने वहांसे विहार करदिया और कोल्लाक नामक गांव में पधार गये। वहां जाकर उन्होंने बाहुल

नामक ब्राम्हण के यहां पारणा किया । वहाँ भी द्रव्यों की विपुल वर्षा हुई जिसे देख वहां के लोग चकित हो गये ।

भिक्षा लेकर ज्यों ही गोशाला वहां आया तो उसे प्रभु न दिखे । वह व्याकुल हो उठा और प्रभु को ढूंढता हुआ वहीं आ पहुंचा जहां भगवान विराजमान थे । वह प्रभु से बोला भगवान्! अब तो आप पर मेरी पूर्ण श्रद्धा हो गई । अब तो मैं आपका शिष्यत्व अंगीकार करता हूं । आजसे आप मेरे धर्म गुरु हुए 'अब मैं आपको छोड़कर कहीं न जाऊंगा ।' इस प्रकार गोशाला भगवान का आपसे आप शिष्य बन गया ।

गोशाला भगवान का शिष्य तो बन गया था परन्तु वह सच्चा साधु न था । उसमें स्वार्थ, अक्षमता और क्रोध तो ज्यों के त्यों हीं भरे हुए थे । रास्ते में विहार करते उसे एक दिन श्री पार्श्वनाथ स्वामी के समुदायके चन्द्राचार्य मुनी से भेंट हो गई। गोशाला ने उन्हें ढोंगी और धूर्त कहकर संम्बोधित किया और उनसे वादविवाद करने लगा। विवाद बढ़ जाने के कारण क्रोध में आकर उनके प्रति चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा 'हे वेषधारियो। जाओ तुम्हारा उपाश्रय इसी समय जलकर भस्म हो जाय।' इस पर उन साधुओं ने गोशाला को समझाया कि 'तू साधु है । साधु को कभी भी कोध न करना चाहिये । उसे तो क्षमता धारण करनी चाहिए । साधुओं को तो क्रोध, लोभ और मोह से सदा दूर रहना चाहिए । तेरे इस शाप से न तो हमको अथवा हमारे उपाश्रय को कुछ हो सकता है परन्तु तेरे व्यर्थ कर्म बंधते हैं । पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा के बदले तू तो उल्टे कर्म बांधता है यह साधु के लिए तो बिलकुल ही अनर्थ का कारण है। यह सुन गोशाला वहां से चल दिया और शीघ्र भगवान के पास आ गया ।

नोट– धर्म के मुख्य चार प्रकार होते हैं (१) दान (२) शील या (ब्रह्मचर्य) (३) तप और (४) भावना इनमें से प्रत्येक की महिमा शास्त्रकारों ने अलग अलग बतलाई है। दान की अपूर्व महिमा का उल्लेख इस पाठ में किया गया है। यों तो संसार में अनेक प्रकार के दान धर्म किये जाते हैं परन्तु सुपात्र दान के बराबर कोई दान नहीं हो सकता। सुपात्र दान को देने और उसकी तृप्त आत्मा को शान्ति पहुँचाने में देवताओं तक को खुशी होती है और उससे प्रभावित हो वे दानी के यहाँ द्रव्य वर्षा कर देते हैं। इस समय भी दान पुण्य की महिमा किसी संकट के आड़े आती है। फिर यदि महान योगी आत्माओं को देकर द्रव्य से भंडार भरपूर होवें इसमें अचंभा ही क्या है।

## राजदण्ड

विहार करते करते भगवान और गोशाला जब चोराक ग्राम में पहुँचे तो वहाँ कुछ राजकर्मचारी गुप्तरूपेण चोरों का पता लगा रहे थे। उनके मन में साधु वेषधारी भगवान और गोशाला के प्रति शंका उत्पन्न हुई। इसी संदेह में उन्होंने भगवान और गोशाला को पकड़ लिया। इन्हें पकड़कर वे लोग ग्राम के अधिकारी के पास ले गये। अधिकारी ने कर्मचारियों की बातों में आकर उन्हें चोर ही समझा और बिना किसी प्रकार की पूछतांछ किये ही हुक्म जारी कर दिया कि इनके हाथ पांव खूब जकड़कर बांध के बिना सिढ़ी के कुएँ में डाल दो। इतना हुक्म मिलते ही सिपाहियों ने उन्हें निदयता से एक कुएँ में ढकेल दिया। भगवान पर तो इसका कुछ भी असर नहीं हुआ किन्तु गोशाला चिल्ला – चिल्लाकर

[illegible]

उन भगवान्, प्रसन्नचित्त, धीर, वीर, गम्भीर ... अपूर्व ... महापुरुष की शान्तीय ... ऐसा प्रतीत होता ... [illegible] -नुसार कहीं ये अन्तिम तीर्थंकर न हों। क्योंकि [illegible] विपत्ति-कालमें भी उनके चेहरे पर अनुपम गंभीरता, प्रसन्नता, निश्चिन्तता और पूर्वोपार्जित कर्मोंके कठोर फलोंको भुगतनेकी उत्सुकता शरीरकी कमनीय कान्ति और असाधारण तेज ये सब गुण एक साथ यह बता रहे हैं कि ये महापुरुष अवश्य ही अंतिम तीर्थंकर होना चाहिये।

इस प्रकार विचार कर वे साध्वियां शीघ्रही उस स्थान के अधिकारी के पास गईं और उन्हें सारा वृतान्त कह सुनाया। अधिकारी ने साध्वियों की बातें सुन सिपाहियों को हुक्म दिया कि शीघ्रही उन महापुरुषों को कुएं में से निकालो। आज्ञा मिलते ही सिपाही लोग कुएं के समीप पहुंचे और भगवान और गोशाला को उसमें से निकाला। अधिकारी भी वहां आ पहुंचा और भगवान

को उक्त कथित सर्वगुण देखकर वहुत लज्जित हो वार वार पछताने लगा। अपने विना विचारे अपराध के लिए वह वारंवार भगवान से क्षमा याचना करने लगा। करुणदृष्टि भगवान ने भी अपना हाथ ऊँचाकर अधिकारी और सिपाहियों को क्षमा प्रदान की और आगे की ओर विहार कर दिया।

वहाँ से चलकर प्रभु हरिद्रु नामक गांव में आये और गांव के बाहर एक वृक्ष के नीचे ध्यान लगा दिया। वहाँ रात्रि को ठहरे हुए व्यापारियों ने शीतकाल के ठंड के कारण आग जला रखी थी। वह आग जलते जलते प्रभु के पांव के आसपास चारों ओर फैल गई। गोशाला तो वहाँ से दूर भाग गया परन्तु भगवान ज्यों के त्यों अपने ध्यान मे निश्चल खड़े रहे। प्रातः काल होते ही जव भगवान की ध्यान मुद्रा खुली तो गोशाला ने पुनः भगवान की अवहेलना की और कहा कि आप अपने पांव की ओर निहारये। प्रभु ने उत्तर दिया कि 'गोशाला! मुझे इससे कुछ भी संताप नहीं, कर्मो का खाता तो ब्याज समेत चुकाना ही पड़ेगा। ये टल नहीं सकता इसलिए क्षमता के साथ इसे खुशी से भोगना ही साधु के लिए अधिक हितकर है।' प्रभु की इस वाणी को सुन गोशाला भी उस दिन से प्रभु के समान क्षमताधारी वनने की भावना करने लगा। पश्चात प्रभु ने वहाँ से भी विहार कर दिया।

अनेकानेक कष्टों को सहन करते हुए गोशाला के साथ जव प्रभु विहार कर रहे थे तो एक दिन राह चलते चलते दो मार्ग मिले। यहाँ गोशाला ने भगवान से कहा 'प्रभु! कष्ट सहते सहते मेरा जी ऊव गया। मैं चाहता हूँ कि आपका साथ न छोड़ूं, पर भगवन्! मैं इन कठिन वेदनाओं को अधिक काल तक सहन

नहीं कर सकता । अतः मैं आपसे अब अलग होकर अपने भाग्य का निपटारा स्वयं करना चाहता हूँ इस प्रकार विदा माँगकर गोशाला प्रभु से अलग होकर दूसरे मार्ग से चल दिया और कई तरह के नवीन कर्म उपार्जन किये जिसका वर्णन अन्यत्र ग्रन्थों में पाया जाता है ।

## अनार्य देश

भगवान महावीर ने अपने चार चतुर्मास तो उक्त कथित स्थानों में अनेकानेक उपसर्गों को सहन करते हुए बिताये । उन्होंने अपना पांचवा चतुर्मास भद्दिलपुर में, छटवां भद्रिकापुरी में, सातवां आलंबिकापुरी में और आठवां चतुर्मास राज्यग्रह में किया । इन चतुर्मासों में भगवान पर शालामी नामक व्यंतरी के उपसर्गों को छोड़कर कोई उपसर्ग नहीं हुए ।

इधर नानाप्रकार के कष्ट और अपमानों को सहता हुआ गोशाला प्रभु की खोज करने लगा । उसे अब मालूम हुआ कि बिना प्रभु के सत्संग के गति नहीं । एक समय जब प्रभु भद्रिकापुरी में पधारे तो गोशाला भी अकस्मात प्रभु को ढूंढता हुआ वहां आ पहुँचा । प्रभु के पास आकर उसने अपने अपराधों की क्षमा मांगी और प्रार्थना की 'प्रभु ! मुझे फिरसे अपनाइये, मैंने जैसा किया वैसा पाया; मेरे अपराध क्षमा कीजिये ।' परम दयालु भगवान ने उसे फिर अपना लिया ।

विचरते विचरते प्रभु महावीर ने अपना नवमा चतुर्मास अनार्य देश में करने का निश्चय किया और उस ओर रवाना हो

गये। अनार्य देश को लाटदेश भी कहते थे। वहां के लोग बहुत क्रूर और घोर हिंसक थे। ताड़ना, मारना और भांति भांति के कष्ट पहुंचाना ये तो उनके प्रति दिन के कार्य थे। ऐसे क्रूर और अविवेकी मनुष्यों को अपने आदर्श स्वभाव से सीधी राह पर लाने के लिये और अपने कर्मों की निर्जरा के हेतु ही भगवान ने अपना नवमां चतुर्मास अनार्य देश में किया।

जब भगवान अनार्य देश (लाट देश) में पहुंचे तो वहां के लोगों ने कौतुहलवश उन पर डंडे चलाना और गंदी गालियां देना शुरू कर दिया। उन पर कोई धूल फेंकता, कोई कुत्ते छुछलाता और कोई कोई नानाविध पीड़ा पहुंचाकर खुशी मनाते थे। भगवान इन सब बातों को बिना द्वेष आनन्द पूर्वक सहते जाते थे। जब प्रभु किसी खंडहर में ध्यान करने के लिये जाते तो वहां के पड़ोसी उन्हें धक्का मुक्का मारकर निकाल देते थे। इतनाही नहीं कहीं कहीं तो प्रभु को थप्पड़ों और घूंसों का भी स्वागत करना पड़ता था। नाना प्रकार से शारीरिक दण्ड देते समय जब वे लोग भगवान से उनका परिचय पूछने और मौन या ध्यान के कारण प्रभुके मुखसे वे कुछ न सुनते तबतो उनके क्रोध की सीमा न रहती। वे उन्हें ढोंगीं अथवा पक्का चोर समझ उन पर कोड़ों की मार बरसाने लगते और कहीं कहीं उन्हें जकड़कर बांध भी देते थे। परन्तु भगवान तो इस सब परीग्रहों को प्रसन्न वदन सहनकर लेते और कभी कोई खंडहर मिल जाता तो वहीं ध्यान मग्न हो जाते थे। इस अनार्य देश में कड़ाके की ठंड में और गर्मी के दिनों में पूर्ण तप्त चट्टानों पर कई दिनों तक ध्यान मग्न रहते देख मानव हृदय कंपायमान हो जाता था। परन्तु भगवान अपने कर्मों की

निर्जरा मेरु के समान अचल और साम्य भाव के साथ करने में कटिवद्ध थे। इस प्रकार विचरण करते करते अपरिमित कायिक और मानसिक कष्टों को प्रसन्नचित सहते सहते प्रभुने अपना नवमां चतुर्मास उसी लाट देश में विता दिया। गोशाला ने भी प्रभु के साथ साथ सभी कष्ट शक्ति अनुसार सहे। चतुर्मास पूर्ण हो जाने पर प्रभु ने उस अनार्य देश से विहार कर दिया।

## तेजो लेश्या और आजीविका सिद्धान्त

अनार्य देश से भगवान महावीर कुर्म गांव में पधारे। उस गांव में वैशायन नाम का एक तपस्वी रहता था जो दो-दो दिन के उपवास की तपस्या करता था और सूर्याभिमुख होकर ध्यान में स्थिर रहता था। उसके सिर की वड़ी- जटाओं में जूए भी रेंगने लगी थी। इस उग्र तपस्या के यथावत प्रभाव से उसे तेजोलेश्या की सिद्धि हो चुकी भी जिसके द्वारा अग्नि की ज्वालाएं प्रगट होकर मनुष्य को भस्म कर सकती थीं।

एक दिन गोशाला भी घूमते-घूमते वहां से निकला। उसने उस तपस्वी को देखकर तिरस्कार किया और उसकी तपस्या की घोर निन्दा की और हंसी उड़ाई। तवतो वह तपस्वी गोशाला के प्रति क्रुद्ध होकर अपने को न सम्हाल सका और उसी समय उसने अपने तपोवल से तेजोलेश्या नामक तपोशक्ति गोशाला के विरुद्ध छोड़ी। उस अग्नि की भयंकर ज्वालाएं जव गोशाला के निकट पहुंचने लगीं तव तो वह भयभीत हो वहां से भागा और शीघ्राति शीघ्र भगवान महावीर के पास आकर चिल्लाने लगा 'भगवान्! मुझे वचाइये, मुझे वचाइये, मै तो भस्म हुआ जाता हूं इत्यादि।'

यह देख प्रभु ने अपनी शान्ति मुद्रा के प्रभाव से उस ज्वाला के प्रति शान्त होजाने के लिये अपना खुला हाथ ऊंचा किया। प्रभु की ठंडी दृष्टि के प्रभाव से वह ज्वाला उसी क्षण शान्त हो गई और गोशाला भी भस्म हो जाने से वच गया।

भगवान की शान्त दृष्टिका यह चमत्कार देख उस तपस्वीको वहुत अचंभा हुआ। वह शीघ्र भगवान के पास आया और अपनी तपस्या से भगवान की तपस्या को वलवती पा उनके गुणों की प्रसंशा करने लगा। उसकी तप शक्ति का गर्व जाता रहा और उसके स्थानपर उसके हृदय में भगवान के प्रति भक्ति भाव जागृत हुआ। वह उसी समय से भगवान का भक्त हो गया।

उस तपस्वी के वहां से चले जाने के वाद गोशाला ने भगवान से पूछा 'भगवान! यह तेजो लेश्या किस प्रकार प्राप्त होती है ?' तव वोले कि 'छै माह तक वेले वेले तप और सूर्य के सन्मुख आतापना करे, और पारणे के दिन एक मुठी उड़द और चुल्लू भर पानी पीकर रहे तो तेजो लेश्या प्राप्त होती है।'

भगवान के इस प्रकार वचन सुन गोशाला भी उक्त तप करने में जुट गया। छैमाह तक उक्त कथित तपस्या करके उसने तेजोलेश्या प्राप्त कर ली। तेजो लेश्या प्राप्त होने के वाद उसने उसका दुरुपयोग करना आरंभ किया अपने स्वभावानुसार जगह जगह वह मनुष्यों को भांति - भांति के कष्ट पहुंचाने लगा। पश्चात भगवान पार्श्वनाथ के सन्तानिक कुछ शिष्यों द्वारा उसने 'अष्टांग निमित्त' का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अव तो गोशाला को दो प्रचन्ड शक्तियां प्राप्त हो गई जिसके कारण वह अपने को जिनेश्वर कहने लगा।

कुछ दिन वाद वह फिर भगवान से अलग हो गया और इन दो सिद्धियों द्वारा वह लोगों को 'आजीविक सिद्धान्त' का उपदेश देने लगा। अपनी सिद्धियोंका प्रभाव दिखाकर वह अपने को चौबीसवां तीर्थंकर कहने लगा। अव तो भोले-भाले लोग उसके माया जाल में फंसने लगे और उनकी संख्या भी काफी तादाद में वढ़ गई।

इधर भगवान को केवल ज्ञान न होने के कारण मौनस्थ होकर ही रहना पड़ा, क्योंकि तीर्थंकर विना पूर्व ज्ञान प्राप्त किये धर्मोपदेश ही नहीं देते। इसी समय जव भगवान छद्मस्थ अवस्था में ही थे तव आजीविक समाज की संख्या भगवान महावीर के अनुयायियों की अपेक्षा किञ्चित अधिक हो गई। परन्तु उसके सिद्धान्त अपूर्ण और नितान्त निर्वल होने के कारण नाम शेष रह गये। इसीलिये आज आजीविक समाज का एक भी अनुयायी नजर नहीं आता।

नोट – अष्टांग निमित्त का ज्ञान प्राय: वह ज्ञान है जिसके आधार से जन्म-मरण, हानि लाभ, सुख-दुख आदि वातों को मनुष्य तत्काल वता सकता है।

## संगमदेव द्वारा उपसर्गों की वर्षा
## और
## अनुपम-सत्याग्रह

शान्तता और वीतराग भावसे अनेकानेक उपसर्गों को सहते हुए प्रभु पेढाणा ग्राम में पधारे। वहां पहुंचकर एक उपवन में

भगवान ध्यानस्थ हो गये और छै मासी तप का आराधन आरंभ कर दिया।

'यहां पर जो उपसर्ग भगवान को हुए है उनका वर्णन करते हृदय कांपता है, धैर्य दहल जाता है, लेखनी रोती है, प्रकृति अस्तित्व शून्य बन जाती है, परन्तु भगवान के अविचल वैराग्य, आदर्श संयम, अद्‌भुत तपोवल उत्तम भावना आत्मकल्याण का निश्चल वृत उन सम्पूर्ण उपसर्गो को तुपार पीड़ित और वेकाम कर देता है। यह है अविचल दृढ़ता की संगीन कसौटी और अनुपम सत्याग्रह का नमूना।'

जब प्रभु ध्यानस्थ हो छै मासी तप कर रहे थे उस समय देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में भगवान के संयम, तप और चरित्र वल की वहुत प्रसंशा की। यह सुनकर सभा का एक संगम नाम का देव प्रभु के विरुद्ध ईर्षालु हो गया। वह सोचने लगा कि 'देव सभा में मृत्यु लोक के शरीरधारी आत्मा की इतनी प्रसंशा कदापि वाञ्छनीय नही। मैं अभी वहां जाता हूं और महावीर को हर तरह से उसके तप, संयम, शील और सदाचार में परास्त कर देवराज इन्द्र के इस कथन का खंडन करता हूं जिससे उन्हें भी किसी की मिथ्या प्रसंशा करने का देव सभा में साहस न हो।' इस प्रकार गन्दे विचार मन में आते ही भगवान को परास्त करने के हेतु वह संगमदेव वहां आया जहां प्रभु ध्यानस्थ तपस्या कर रहे थे।

प्रभु के शान्त, अचल निष्काम और लोकोपकारी शरीर को देखकर संगमका ईर्षाभाव दुगना होगया। उसीक्षण उसने प्रभु को ध्यान से डिगाने के लिये अपनी माया से घटाटोप धूलिकी वहुत

देर तक कड़ी वर्षा की। चारों तरफ पृथ्वी धूलिसे भर गई, सम्पूर्ण वायुमंडल रजमिश्रित हो गया। सहस्रों जीवधारी प्राण रहित होगये और भगवानका शरीरभी धूलिसे ढक गया। चहुंओर प्रलयकारी भयानक दृश्य फैल गया। परन्तु भगवान पूर्ववत सुमेरु के समान अविचल तथा महासागर के सदृश गंभीरता को धारण किये, विना गतिमान हुए ज्यों के त्यों ध्यानस्थ खड़े रहे।

यह देख संगम और भी क्रोधित हुआ और अपनी उग्र माया से वहाँ उसने भयंकर विषैली चींटियों को उत्पन्न किया। उन चींटियों से प्रभु के शरीर के प्रत्येक भाग को वहुत निर्दयता से कटवाया। ऐसी निर्दयता को देख कलेजा थरथरा जाता है, धैर्य पलायन कर जाता है। परन्तु आत्म संयमी, दृढ़ संकल्पी, तपो-निधी भगवान, जिन्हें शरीर की कुछ भी परवाह नहीं है, ऐसे भयंकर आतंक में भी पूर्ण निश्चल, निर्भीक और अपूर्व शान्तता धारण किये हुए ध्यानमग्न थे।

ऐसी अवस्था में प्रभु को देख संगम का पारा और भी चढ़ गया। उसने तीसरी वार विषैले सर्प, विच्छू, गोहरे आदि महा भयंकर जन्तुओं को उत्पन्न कर प्रभु के शरीर पर छोड़ा। उन जन्तुओं ने भी अपने मन की अच्छी तरह कर ली। परन्तु जहां चण्डकौशिक सरीखे विषधर से भी प्रभु का कुछ न बिगड़ सका तो ये मायावी विषैले जन्तु बिचारे क्या कर सकते थे। इतना सब कुछ होने पर भी प्रभु के मन में लेशमात्र भी द्वेष पैदा न हुआ। वे तो अपने आत्म वल से सभी उपसर्गों को शान्तता पूर्वक सहते चले गये। इस प्रकार पूरे छै महीने तक संगम ने प्रभु के शरीर पर अनेक प्रकार की आपत्तियां ढाईं। जिसे पढ़कर पाषाण हृदय भी चूर-चूर हो जाता है।

प्रभु के उत्कट तपोबल के सामने, देव होकर भी जब संगम की राक्षसी क्रियाएं और प्रयत्न सब विफल हो चुके तबतो उसने मनुशरीर के बिल्कुल अनुकूल काम वासनाके प्रखरतम प्रयोगोंका वार करना प्रारम्भ किया। उसने अपनी माया से चारों ओर वसन्त ऋतु की रचना कर दी। फिर नाना प्रकारके कामोत्तेजक पदार्थोंसे उस वनस्थलको परिपूरित कर दिया। पश्चात् संगमने कामकलाओं में पारंगत, रूपलावण्य में अनुपम और पूर्ण योवन सम्पन्न कामिनियों को एकत्रित कर वहां एक बड़ी संख्या में उपस्थित कर दिया।

अब तो भगवान के आस पास उस फूली फली वसन्त में चंचल और दीर्घ नयनोंवाली, यौवनके अभिमान में माती, पतली कमर और लंबे केस वाली, और तत्क्षण कामोद्दीपन करने वाली युवतियां अपने हाव भावसे प्रभुको मोहने लगीं। कोई गाती हुई, कोई बजाती हुई, कोई-कोई नृत्य करती हुई, कोई मनचली कामिनी गाढ़ आलिंगन कर प्रभुकी कामवासनाको जागृत करने लगी। कोई-कोई गल बहियां डालकर मधुर-मधुर बातें कह-कह कर प्रभु को फुसलाने लगी। परन्तु इन सबके हाव, भाव, कटाक्ष और कारनामे सब फूसकी राख के समान बेकाम हुए। इन बातों का प्रभु पर लेशमात्र भी असर न हुआ। वे तो अपने ध्यान में हिमाचल के समान अटल के अटल ही बने रहे।

अभी तक तो उस संगम देव की सम्पूर्ण शक्तियों का प्रभु के आगे भारी अपमान हुआ परन्तु उसकी डाहमें कमी न हुई। संपूर्णतया हर एक प्रयोगों में परास्त हो अब वह चिंतातुर हो सोचने लगा कि "छै माह होते आये मेरी हार पर हार ही होती गई। मैं स्वर्ग

में जाकर अब मुंह कैसे दिखाऊंगा। वहां से तो मैं घमंड पूर्वक इन्द्र महाराज के कथन का खंडन करने आया था, परन्तु यहां तो अनेकों वार मुझे पूर्ण हताश होना पड़ा। पूर्ण छै मास के दमन-चक्र के वाद भी मुझे यहां से निर्लज्ज और निराश होकर स्वर्ग में जाना पड़ेगा। यह तो वड़े गजवका मनुष्य है। अबकी वार एक और परीक्षा करता हूं।" यह कहकर वह संगमदेव वहांसे चला।

इसवार भगवानकी छै माही तपस्या पूर्ण हुई। फिर भगवान आहार लेने को गोकुल ग्राम में पधारे। उस ग्राममें जहां-जहां प्रभु उस समय आहार लेने गये वहां वहां संगम ने निर्दोष आहार को अपनी माया से दोषयुक्त कर दिया। तव तो विना आहार पानी लिये ही प्रभु अपनी पूर्ववत शान्तिमें स्थिर रहे। संगम कदाचित् यह समझता था कि छै महीने तक अखंड तपस्या करके अव इन्हें आहार न मिलेगा तो ये अवश्य डिगमिगा जावेंगे और इनका क्रोध संदीप्त हो जायगा। परन्तु भगवान तो अन्तत: वीर ही थे, उन्होंने उसके प्रति कुछ भी द्वेष न किया। तव तो अतुलनीय सहनशक्ति अनुपम साधुवृत्ति और अटल निश्चय और उत्कट सत्याग्रह देख संगमका हृदय चूर-चूर हो गया। अव इन्द्र द्वारा प्रसंशित भगवान के प्रति उसकी भक्ति जागृत हुई। वह प्रभु के पास आया और अपने इतने कड़े और भयंकर अपराधों की क्षमा याचना करने लगा प्रभुने उसे अपनी शान्त दृष्टिसे क्षमा प्रदान की। तदनन्तर संगम अपने कृत अपराधों पर लज्जित हो स्वर्ग को चला गया।

इधर संगम के चले जाने पर भगवान ने उसी गोकुल ग्राम में एक गोपिका के घर आहार ग्रहण किया। इस प्रकार कठिन से कठिन तपस्वियों, तेजस्वियों और शूरवीरों के मन को क्षण भर में

चलायमान कर देने वाले उपसर्गो और संकटों को शान्तता पूर्वक सहन कर और अपने अविचल सत्य द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया।

नोट– इस पाठ से सत्याग्रह की कड़ी परीक्षा का अनुमान होता है। इसमें जो उत्तीर्ण होते हैं उनके आगे संसार की भारी से भारी शक्तियाँ झुक जाती हैं और अन्त में विजय श्री उनकी दासी बन जाती है। यह है सच्चे वीरों की वीरता की उज्जवल चमक का जीवित उदाहरण।

## भगवानका अभिग्रह और चन्दनबाला

इस प्रकार विचरते हुए भगवान ने अपना ग्यारहवाँ चातुर्मास वैशाली में किया और वहाँ से कई स्थानों को अपने चरण कमलों द्वारा पवित्र करते हुए कोशाम्बी में पधारे।

उस समय वहाँ राजा शतानीक राज्य करता था, उसकी रानी मृगावती थी। उसी नगरी में धनावह नाम का एक सेठ रहता था, जिसकी मूला नाम की कलहकारिणी ईर्षालु स्त्री थी।

इस नगरी में आकर प्रभु ने बड़ा ही कड़ा अभिग्रह धारण किया, जिसमें कई बातों का समावेश होता है. उन्होंने निश्चय किया कि अब तो (१) आहार किसी राजकन्या के हाथ से ग्रहण करना (२) वह राजकन्या बिकी हुई होना (३) उसके पैरों में बेड़ियां पड़ी हों (४) उसका सिर मूंडा हुआ हो (५) जो तीन दिन के उपवास से युक्त हो (६) उड़द के बाकुले आहार में देवे (७)

बाकुले सूप में हों (८) जिस समय वह कन्या आहार दे तो उसका एक पांव देहली के बाहर और एक भीतर हो और (६) जिसकी आंखों से अश्रुधारा वहती हो ।

इस प्रकार अभिग्रह धारण कर भगवान प्रतिदिन कोशाम्बी नगरी में जाते परन्तु उक्त प्रकार की योजना कहीं भी प्राप्त न होती। ऐसा करते-करते पूर्ण चार माह व्यतीत हो गये परन्तु कहीं भी अपने अभिग्रह अनुसार भोजन प्राप्त नहीं हुआ । यह बात बस्ती के राजा, मन्त्री वगैरह को मालूम हुई तब तो नगर में भारी चिंता फैल गई। बड़े-ज्योतिषियों ने भी भगवान के अभिग्रह को मालूम करने का प्रयत्न किया मगर वे सफल न हुए । चार मास पूर्ण हो जाने पर भी अभिग्रह सफल न हुआ । जब तक दूसरी ओर क्या-क्या घटना घटी है उसका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है-

उस समय नगरी चम्पावती में राजा दधिवाहन राज्य करते थे। उनकी धारिणी नाम की पतिव्रता रानी थी । उनकी महाशीलवती बसुमति नाम की कन्या थी। ये तीनोंही प्राणी पूर्ण धर्मात्मा थे; रात दिन जिनेश्वर पूजन में विताते और मोक्ष के मार्ग का साधन करते थे । एक दिन अचानक ही उन पर आपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा । कोशाम्बी का राजा शतानीक किसी कारण चम्पावती के राजा दधिवाहन से क्रुद्ध हो गया । वह अपना सैन्य - दल लेकर दधिवाहन पर चढ़ आया युद्ध होने पर दधिवाहन हार गया और नगर छोड़कर भाग निकला। शतानीक ने राजधानी में प्रवेश कर लूट मचा दी । उसी लूट में एक सुभट दधिवाहन की पतिव्रता रानी धारिणी और कन्या बसुमति को उड़ा ले गया रास्ते में उस सुभटने रानी धारिणी के प्रति अपनी दुईच्छा प्रगट की । रानी ने

उसे वहीं खूब फटकारा और उसका तिरस्कार किया। फिर भी वह सुभट रानी से अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं करता ही जाता। तब तो रानी ने अपनी लाज और धर्म को बचाने के हेतु तुरन्त अनशन व्रत धारण कर लिया और अपने सिर के लम्बे केशों द्वारा आत्मघात कर प्राण छोड़ दिये।

यह हाल देख वसुमति घबरा गई और चिल्ला चिल्लाकर रोने लगी। उसके करुण क्रन्दन से सुभट का दिल पिघल गया और उसने मातृहीन उस कन्या को पालन का अभिवचन देकर अपनी पुत्री एवं बहिन बनाकर घर ले आया।

रूप और लावण्य से परिपूर्ण उस कन्या के साथ में सुभट को घर में आया देख उसकी स्त्री क्रोध से ज्वलित हो गई और उसने उस सुभट को खूब ही उलटे हाथ लेना शुरु किया। तब तो वह वसुमति के प्रति अपने सब अभिवचन भूल गया और वसुमति को बाजार में लाकर एक वेश्या को बेच डाला। वसुमति तो पूर्ण शीलवती थी, वह अपने को वेश्या के हाथ बेची समझ घबराने लगी और अपने भाग्य को कोसने लगी; क्योंकि वेश्या के यहां उसके शील की रक्षा होना बिलकुल असंभव था। वह मन ही मन नवकार मंत्र का जाप जपने लगी और प्रभु से प्रार्थना करने लगी कि "हे प्रभु! अब तो मेरे शील की रक्षा के सहायक आप हैं रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।"

जब वसुमति उस वेश्या के साथ भगवान का स्मरण करती हुई जा रही थी उसी समय बीच में ही कुछ देवताओं ने वन्दरों का रूप धारणकर उस वेश्या को बुरी तरह नोच खरोंच डाला।

तव तो यह सौदा अपशकुन का समझ उस वेश्या ने वसुमति को उस सुभट के पास लाकर उसे फिर से सौंप दिया और अपने पैसे वापिस ले घर चली गई। वाद में उस सुभट ने उस कन्या को धनावह सेठ को वेची। धनावह सेठ की कोई संतान न थी इसलिये उसने वड़े प्रेम से वसुमति को अपनी कन्या मानकर घर ले आया। और उसका नाम चन्दनवाला रक्खा ज्योंही चन्दनवाला सेठ धनावह के साथ घर में आई त्योंही उसे देख सेठ की गृहणी मूला के मन में ईर्षा पैदा होने लगी। एक दिन मूला कहीं वाहर गई हुई थी कि सेठजी घर में आये और पैर धोने को पानी मांगा। मूला घर में न थी इसलिये चन्दनवाला ने अपने पिता से कहा "पिताजी ! माताजी घर में नहीं हैं, मैं स्नान कर रही हूं, आप यहीं पधार जवें तो मैं ही आपके पांव धुला देऊं" यह सुन सेठ चन्दनवाला के पास गया। चन्दनबाला सेठजी के पांव पर पानी डालने लगी। इतने में ही मूला वहां आ पहुंची और चन्दनवाला का यह कार्य देख मन ही मन क्रोधित हो गई। अव तो उसकी ईर्षा चन्दनवाला के प्रति और भी वढ़ गई।

फिर एक दिन जब सेठजी बाहर गांव गये थे, तव कोई बहाना ढूंढ़कर मूला चन्दनबाला पर क्रोधित हो गई। उसने तुरंत एक नाई को वुलाकर उसका सिर मुंडवा दिया और लोहार द्वारा उसके पैरों में बेड़ी डलवाकर अपने मकान की एक कोठरी में उसे बन्द कर दिया। वहां चन्दनवाला ने तेले अर्थात् तीन दिन के उपवास की तपस्या धारण कर ली। तीसरे दिन जव सेठजी घर आये तो देखा कि मूला तो अपनी माता के घर चली गई और चन्दनबाला का पता नहीं। उन्होंने पड़ोसियों से वहुतेरी पूछताछ

की। तव एक पड़ोसी बोला कि 'गडवड़ मचाने के पहले अपना घर भली भांति देख लो।' सेठजी ने उसकी वात मान ली और घर की सव कोठरियां देखना आरम्भ कर दिया। देखते-देखते एक कोठरी में चन्दनवाला को वेड़ी से जकड़ी हुई पाया। सेठ उसी समय चन्दनबाला को बाहर लाया और सामनेकी ड्योढ़ीपर लाकर नजदीक सूप में पड़े हुए उड़द के वाकुले उसके सामने घर दिये और उसकी वेड़ी कटवाने के लिए लोहार वुलाने चले गये।

इस दिन चन्दनवाला का तेले का पारणा था। उसके मन में यह भावना उत्पन्न हो रही थी कि यदि यहां कोई सन्त मुनि-राज आ जावें तो उन्हें कुछ आहार कराकर पारणा करूं। इतने में ही भगवान महावीर पारणे के हेतु पधारे। अपने अभिग्रह को सफल होते पूर्ण पांच माह पच्चीस दिन हो गये और ज्यों ही वे चन्दनवाला के यहां पहुँचे तो वहां अभिग्रह की एक वात को छोड़ शेप सब वातें उन्हें मिल गयीं, परन्तु वह एक वात न होने के कारण वे वहां से लौट पड़े। यह देख चन्दनवाला अपने को धिक्कारती हुई रो पड़ी और उसकी आँखोंसे अश्रुधारा वह निकली; वस यही एक वात होने को थी कि भगवान की दृष्टि पुनः उस पर पड़ी। भगवान ने अपने अभिग्रह की कुल सामग्री एक ही स्थान में पाकर उन उड़द के वाकुलों से पारणा किया। वस फिर क्या था, देव दुंदुभि वजने लगी और चन्दनवाला की लोहे की वेड़ी स्वर्ण की होकर आपसे आप टूट पड़ी। देवों ने भी धनावह के घर पंचद्रव्यों और रत्नों की वर्षा की। भगवान ने चन्दनवाला के घर पारणा कर अन्यत्र विहार कर दिया। आगे जव भगवान को केवल ज्ञान हुआ तव चन्दनवाला ने भी दीक्षा ग्रहण करली और अपना शेप जीवन आत्मसंशोधन में लगाकर मुक्ति का मार्ग पकड़ लिया॥

# भगवानका बारवां चातुर्मास
# और
## अन्तिम - उपसर्ग

भगवान महावीर उपसर्गों के ऊपर उपसर्गों को इस प्रकार सहते-सहते और कठिन से कठिन तपस्या करते हुए चंपा नगरी में पधारे। अग्निहोत्री ब्राह्मणों की धर्मशालामें ठहरकर अपना बारवां चतुर्मास वहीं किया। यहां चार महिने की तपस्या कर वर्षा बीत जाने पर पारणा किया। और षणमानी गांव की ओर विहार कर दिया।

वहां आकर वस्ती के निकटवर्ती वन में प्रभु एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। अपने बैलों को चराता हुआ एक ग्वाला वहां आ निकला और अपने बैलों को वहीं चरते हुए छोड़ वह थोड़ी देर के लिये अन्यत्र चला गया। बैल चरते-चरते दूर चले गये, इतने में ही वह ग्वाला वहां आया और वहां बैलों को न देखा। वह ध्यानस्थ प्रभु से पूछने लगा कि 'मेरे बैल कहां गये?' मगर प्रभु से कुछ उत्तर न पाकर वह बैलों को ढूंढ़ने के लिए जंगल में इधर उधर भटकने लगा। जब खूब हैरान हो गया तब वह ग्वाला पुन: प्रभु के निकट आया और वहां देखा तो बैल चर रहे थे। यह देख उस ग्वाले को एक दम क्रोध आ गया। वह सोचने लगा कि हो न हो यह मनुष्य कोई ठग है। इसे उचित दण्ड देना चाहिये। इतना विचार मन में आते ही उसने लकड़ी की दो खिली अपनी कुल्हाड़ी से बनाई और प्रभु के दोनों कानों में ठोक दी। उस समय प्रभु को अतुलनीय वेदना अवश्य हुई होगी परन्तु कर्मों का वदला

विना चुकाये काम ही नहीं चलता। पूर्व भवमें जब प्रभु त्रिपृष्ट वासुदेव थे उसी समय यह ग्वाल एक शय्यापालक था। उस त्रिपृष्ट वासुदेव के भवमें प्रभुने, राजमदमें आकर एक छोटेसे अपराध के कारण, गरमागरम सीसा पिघलाकर उस शय्यापाल के कानों में डलवाया था। उसी का बदला आज प्रभु चुका रहे है। इतनी कड़ी वेदना होने पर भी प्रभु जरा भी चल विचल न हुए। वल्कि अपने निश्चय चित्त और अमोघ धैर्य के साथ ज्यों के त्यों अटल ध्यानस्थ खड़े रहे।

जब प्रभु की ध्यान मुद्रा खुली तो उन्होंने वहां से पड़ोस की एक दूसरी वस्ती की ओर विहार कर दिया। वहाँ 'खाफ' नाम का वैद्य रहता था। उसने प्रभु की मुखाकृति देखकर पहचाना कि प्रभु को अवश्य कोई शारीरिक पीड़ा है। तत्काल उसने प्रभु के शरीर को देखा तो उसे कानों में दो कीलें दिखाई दीं। इस दृश्य को देख वह कांप उठा और सिद्धार्थ नामक सेठ की सहायता से भगवान के कानों की कीलें वाहर निकालकर फेंक दी। जिससे भगवान की पीड़ा दूर हुई और खाक वैद्य को भारी पुण्य वंध हुआ।

## प्रभुको केवल ज्ञान

भगवान महावीरने पूर्ण साढे वारह वर्ष तक भंयकर से भंयकर उपसर्गों को सहन किया। उन्होंने उग्र से उग्र तपस्या धारण कर अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का बदला हंसते - हंसते चुका दिया। इन साढे वारह वर्षों में प्रभु ने पूर्ण एक वर्ष भी भोजन नहीं किया। इस अवसर में शत्रुओं ने भारी से भारी आक्रमण प्रभु पर किये।

परन्तु पशुवल सदैव मुंह की खाता रहा। प्रतिपक्षियों पर प्रभु की ओर से तनिक भी वार न हुआ तिसपर भी विजयश्री ने अन्त में भगवान को ही वरा और शत्रुओं के पैर उखड़ गये। प्रभु का यह दिव्य चरित्र मूक-भाव से हमारे सामने आत्मवल का एक उत्तम आदर्श रखता है।

प्रभुने जितना तप किया वह प्रतिज्ञा-पूर्वक ही किया। ध्यान मौन, आसन, समाधि और आत्म चिन्तवन कर अन्त में शुल्क ध्यानरूपी जाज्वल्यमान अग्नि में उन्होंने अपने चार आत्माको डुवाने वाले घनघाति (ज्ञाना वरणी, दर्शना वरणी, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों को भस्म कर दिया।

अव जिस ज्ञान के अभाव से दुनिया अन्धकार में गोता खा रही है, जिस ज्ञान के अभाव में जनता मिथ्या रूढ़ियों के वशीभूत संसार में अनर्थ कर रही है, जिस ज्ञान के न होने से लोग ममत्व, माया और तृष्णा के गुलाम वन रहे हैं, जिस ज्ञान के अभाव में सवल निर्बलों का अन्यायपूर्ण हनन कर रहे हैं, जिस ज्ञान से रहित संसार एक क्लेश कदा गृह और वर्बरता का स्थान वन रहा है और जिस ज्ञान के अभाव में आत्मा अपने निज गुणों को भूल के पर स्वभाव में रत होकर कभी शांति नहीं पाती, इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए भगवान महावीर ने कठिनसे कठिन तपश्चर्या की, मरणांतक कष्टों को भी अपूर्व शांति के साथ सहन किया और उत्त-मोत्तम भावना से चार उक्त कथित घघानति कर्मोंको समूल नष्ट कर जम्बुक ग्राम के पास, रजुवालिका नदीके तीर, शालिवृक्ष के नीचे छठ्ठतपयुक्त गोदुह आसन लगाये, शुक्ल ध्यान में मग्न वैसाख

सुदी १० के दिन विजय नामक शुभ मूहूर्त में सर्व लोकालोक के सर्वांग द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को जानने वाला कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। भगवान को यह सर्वज्ञता प्राप्त होते ही संसार भर में आनन्द छा गया; देवी देवता और इन्द्रादि ने महामहोत्सव मनाना आरम्भ कर दिया। पुष्पवृष्टि होने लगी और धार्मिक विश्रृंखलता की भट्टी में शांति का संचार होने लगा ॥

## भगवान महावीर का समवसरण

केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् वैसाख सुदी ग्यारस को भगवान महावीर अपापा नगरी के महासेन उद्यान में पधारे। वहां इन्द्र महाराज के आदेशानुसार देवताओं ने चांदी, सोना और रत्नमय तीन गढ, बारह दरवाजों से युक्त; उत्कृष्ट सिंहासन और अशोकादि वृक्षों से पूरित दिव्य समवरणकी रचना की। इस समवसरण अर्थात् व्याख्यान मण्डप की अनुपम शोभा का वर्णन तथा उसके प्रभाव का उल्लेख शास्त्रों में बहुत ही विस्तारपूर्वक पाया जाता है। उनमें से कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं कि—

(१) उस समवसरण में सब ही जाति और वर्णों के मनुष्य भेदभावों को छोड़कर एक साथ ही उपदेश सुनने को आतुर हो रहे थे।

(२) प्रभु के आत्मज्ञान का अलौकिक प्रकाश केवल मनुष्य मात्र तक सीमित न था, वरन् पशुपक्षियां एवं प्राणीमात्र को पारलौकिक सुख का अनुभव कराने वाला था।

(३) उस व्याख्यान मण्डप में हिंसक से हिंसक पशु-पक्षी भी अपनी क्रूरता को तजकर, आत्म-कल्याण के हेतु शान्तता-पूर्वक विराजमान थे।

(४) उस मण्डप में जो-जो प्राणिमात्र आकर बैठे थे उन सभी के हृदय में क्षमा, शांति, करुणा और समता के भाव परिपूर्ण सुशोभित थे।

(५) उस सभा मण्डप में यद्यपि सब ही प्रकार के प्राणी थे तिस पर भी भगवान की दिव्य आत्मा का तेज सर्वत्र इस प्रकार छाया हुआ था कि चहुँओर शांति ही शांति विराज रही थी।

(६) प्रभु के उपदेश की भाषा उस समय की लोक भाषा अर्द्ध मागधी थी। परन्तु प्रभु के आत्म तेजके प्रभाव से वहां बैठे हुए सब ही प्राणी अपनी-अपनी भाषा में प्रभु के उपदेश द्वारा अदृश्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे।

(७) उस व्याख्यान मण्डप की रचना इतनी विचित्र थी कि उसके अन्दर किसी भी स्थान पर बैठा हुआ प्राणी प्रभु के प्रसन्न मुख मंडल को बिना किसी कठिनाई के देख सकता था।

ऐसे दिव्य अलौकिक समसवरण की रचना के पश्चात् तीर्थों को नमस्कार कर, अपने केवल ज्ञान द्वारा जगत को शांति देने वाला, सत्व संदेश पहुंचाने के हेतु प्रभु महावीर उच्च अन्तरिक्ष रत्नजड़ित सिंहासन पर विराजमान हुए।

# उपदेश प्रदान

जैन शास्त्रों में यह बात विशेष रूप से उपलब्ध है कि तीर्थंकर विना केवल ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त किये किसी प्रकार का धर्मोपदेश ही नहीं करते। यही कारण है कि जैन धर्म सर्वज्ञों का धर्म कहलाता है जहां परस्पर विरोधाभासका कहीं आभासतक भी नहीं मिलता। केवल ज्ञान के पूर्व भगवान महावीर ने भी कठोर से कठोर कष्ट सहन करते हुए प्राय:मौन वृत को धारण कर रक्खा था।

केवल ज्ञान प्राप्त करके जगत के जीवों को दुखित देखकर भगवान ने अब उस दिव्य सत्य-सन्देश को जगत में प्रसारित करना चाहा जिससे प्राणि मात्र को पूर्ण सुख और शांति प्राप्त हो। उन्होंने लोक कल्याण के लिए समयानुसार अपने कार्यक्रम को बदलने में ही सच्ची विश्रांतिका अनुभव किया और परोपकारको ही जिसमें जीवमात्रों का समावेश हो जाता है—ऐसे आत्मोपकार, परोपकार प्रजातन्त्रवाद जिसमें जीव मात्रों का समावेश हो जाता है – के समान अपनाया।

इस समय भारत भर में हिंसा ही हिंसा का राज्य हो रहा था, स्वार्थी लोगों ने वेदों का अर्थ ही बदल दिया था, जहां देखो वहां धर्म के नाम पर यज्ञादि क्रियायों में लाखों जीवों का हनन हो रहा था, सारी पृथ्वी मूक प्राणियों के रक्त से दूषित हो रही थी, स्वार्थियों ने अपने मनोरथों की सिद्धि में सैंकड़ों राजा महाराजाओं को धर्म का नाम लेकर अधर्मकी ओर अग्रसर कर दिया था। सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था, कहीं अश्वमेध यज्ञों में सहस्त्रों घोड़ों का बलिदान

होता था, कहीं गोमेध यज्ञ में लाखों गौएं होम दी जाती थीं और कहीं-कहीं नरमेध यज्ञ में सैकड़ों मनुष्य व बच्चों का बलिदान होता था, और इसे ही सच्चा धर्म बतलाया जाता था।

भगवान महावीर अपने ज्ञान द्वारा एवं अमोघ शक्ति से इस हृदय विदारक अवस्था को समूल नष्ट करनेका उपदेश देना आरंभ किया। उन्होंने बतलाया कि खून का दाग खून से ही धोने से साफ नहीं हो सकता, इसी प्रकार अधर्म को मिटाने के लिये अधर्म हीं करने से धर्म कदापि नहीं हो सकता। उन्होंने दर्शाया कि सुख और शान्ति का मार्ग वही हो सकता है जिसे प्राणी मात्र चाहें। प्राणी मात्र को, चाहे छोटा हो चाहे बड़ा हो, अमीर हो या गरीब हो, पशु हो या पक्षी हो, कीड़ा हो या पतंगा हो सबको अपनी-अपनी जान प्यारी है और सब ही अपनी-अपनी अवधि तक जीवित रहना चाहते हैं। इसी अवस्था को कायम करने और भारत व्यापी बनाने में भगवान महावीर ने "अहिंसा परमो धर्मः" का दिव्य उपदेश अपनी गगन भेदी बुलंद आवाज से देना आरंभ कर दिया। और जीव मात्रों के लिये प्रजातंत्रवाद की उत्तम नींव डाली जो आजकल अंशतः मनुष्य मात्र तक सीमित रह गई है। भगवान की ऐसी अनोखी करुणा,क्षमता, दया और आत्मा के अमर धन एवं सत्य के वितरण करने की चर्चा को देख सुन और अनुभव कर जन समुदाय, उनकी शरण में आकर अपने जीवन को 'सत्यं शिवम् सुन्दरं' के अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित करने को, उमड़ पड़ा।

सर्वज्ञ भगवान ने, बिना जाति भेद ऊंच नीच, पशु-पक्षी सब ही शरणागत प्राणियों को सत्य का सतस्वरूप बतलाया जिसका

एक ही उद्देश्य था और वह यह था कि दुनिया के घर घर और दर-दर सब ही जगहों में सत्य का शुभ संदेश पहुंचे। संसार के दुखित प्राणी सत्य की सुशीतल छाया में परमानन्द का सदा उपभोग करें। कलह और क्लेश, दुःख और दर्द वैर, और विरोध का दुनिया से निर्वासन हो। अवनि तलपर अहिंसा का अखंड शासन सुदृढ़ बना रहे। दया का अखंड स्त्रोत प्राणी मात्र के हृदय में बहता रहे। घर-घर में परोपकार की प्रतिष्ठा हो। जगत में सात्विक प्रेम का फैलाव हो; और अन्त में लोग एकमात्र आत्म ज्योति के सुन्दर दर्शन कर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होते चले जायें।

भगवान के इस सत्य-सन्देश का; तत्कालीन मनुष्य समाज पर बड़ा असर पड़ा। उन्होंने अहिंसा के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का निरूपण कर जगत को समता रस का अमृत पान कराया। बस, इतना होते ही जन-समुदायमें राग-द्वेष की भावनाएं मिटने लगीं। साम्य भाव प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थान पाने लगा। अमानुषिक अत्याचारों का प्रवाह वेग से लोप होने लगा। यज्ञों के नाम पर लाखों पशुओं के रक्त से पृथ्वी का रंचित होना एकदम रुक गया। जाति भेद गत घृणित रूढ़ियों का प्रायः अन्त हो गया। समतावाद का चारों ओर सुन्दर शासन प्रसारित हुआ। शान्ति का स्वागत घर-घर होने लगा। लोभवृत्ति और स्वार्थ-कामना की काया पलटी। जगत में त्याग और तपस्या की प्रतिष्ठा बढ़ी। लोगों ने एक नई और चमत्कारपूर्ण सात्विक भावनाओं को लेकर प्राणी मात्रों के एक नवीन प्रजातंत्र युग में पदार्पण किया।

भगवान महावीर ने कोई नवीन बात नही बतलाई, परन्तु भूले हुए दुःखित प्राणियोंको पूर्ण तीर्थंकरों द्वारा भाषित अहिंसा धर्म

का ही तत्कालीन द्रव्य, काल क्षेत्र और भावानुसार सत्य संदेश भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणोंसे समझाया। उन्होंने अपने आदर्श उदाहरण से बतलाया कि घृणा ही सबसे अधिक त्याज्य है घृणा ही सर्व-नाश का कारण है। घृणा की नींव हिंसा है जो सर्व पापों का मूल है। इसलिये किसी से घृणा मत करो। संसार में घृणित वह है जो घृणा करता है क्योंकि उसका हृदय घृणा से घृणित है और उसी के वशीभूत वह संसार में दुःख क्लेश और अशान्ति की बाढ़ ले आता है। चेतन आत्मा प्राणी मात्र में विद्यमान है और वह सब ही अन्तःकरणों में एकसा प्रकाश करती है। इसीलिये किसी के प्रति घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है।

भगवान का आदर्श सिद्धान्त क्षणिक नहीं था, वे परिणाम-दर्शी थे। उनकी धार्मिक भावना में लोक कल्याण का हेतु था। जिसकी नींव केवल सत्य, विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ भावना और अहिंसा के सुदृढ पायों पर रची हुई थी।

भगवान महावीर के सिद्धान्त में आत्मज्ञान, अध्यात्मज्ञान, तत्वज्ञान विज्ञान और स्याद्वाद का पूर्ण समावेश होने के कारण ही उन्हें परिपूर्ण सफलता मिली और जैन धर्म पुनः पूर्णरूप से विकसित होने लगा। बड़े बड़े राजा महाराजा एवं धुरंधर विद्वान वेदान्त के ज्ञाता भगवान के अहिंसा रूपी झंडे के नीचे आ गये, और गोशाला का चलाया हुआ 'आजीविक' और बुद्ध का 'बौद्ध धर्म' जो भगवान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने के पहले बहुत वेग से प्रचलित हो चुके थे, "अहिंसा परमो धर्मः" का सिद्धान्त पालन करते हुए भी आत्मज्ञान शून्य होने के कारण शीघ्र उदय होकर अस्त हो गये या उनका रूपान्तर हो गया।

परन्तु जैन धर्म की नींव अभेद किले के सदृश्य सदृढ़ होने के कारण आज तक धर्मों में अपना उच्चासन गृहण किये हुये अपने सिद्धान्त का महत्व विश्वव्यापी बना रही है। यह जैन धर्म की अहिंसा और आत्मबल का सत्य विकास ही है जिसने संसार की पाशविक महान शक्ति का सामना महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत वर्ष में किया और कर रहा है। जिसके आधार पर ही संसार की सब ही भारी शक्तियां "निःशस्त्री करण" के सिद्धान्त को अपना के विश्व शान्ति फैलाना चाहती हैं। 'अहिंसा' आत्मा का निज गुण होने के कारण महान् शक्तिशाली शस्त्र है सत्य के आधार पर जिसका प्रभुत्व संसार में कभी नष्ट नहीं हो सकता।



# भगवान महावीर के ग्यारह गणधर

## अर्थात्

# 'प्रमुख-शिष्य'

अपापा नगरी के वाहर जव भगवान के समवसरण में सहस्त्रों प्राणी अमृतमयी प्रभु की वाणी का शांति रसपान कर रहे थे तव उस नगरी में सोमिल नामक ब्राम्हण के यहां एक वहुत वड़े यज्ञ की तैयारी हो रही थी। उसमें भिन्न-भिन्न स्थानों एवं प्रदेशों के वड़े-वड़े धुरन्धर विद्वान, आचार्य और पंडित आमन्त्रित किये गये थे। उनमें से मुख्य गोव्हर नामक वस्ती से गौतम गोत्रीय वसु भूति के तीन पुत्र इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति अपने पाँच पाँच सौ शिष्यों के साथ उस यज्ञ में पधारे। वे अपने समय के विद्वानों में प्रकांड तेजस्वी और सर्वश्रेष्ठ गिने जाते थे। उनके वाद कोल्लाक गाँव से व्यक्त और सौधर्म्म नामक प्रचन्ड पंडित लोग वहां आये। उनके साथ उनके एक हजार शिष्य भी थे। इसी प्रकार भिन्न - भिन्न स्थानों से मंडित और मौर्य अपने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों के साथ और अकंप, अचलभ्रात, मैतार्य और श्रीप्रबास अपने तीन तीन सौ शिष्यों के साथ उस यज्ञ में सम्मिलित हुए।

यों तो वे ग्यारहों पंडित अपने समय के दिग्गज विद्वान थे और धार्मिक विद्याओं में एवं अनेक भाषाओं में सर्वांग अधिकार रखते थे। तब भी उनके हृदय में धार्मिक विषय में कोई न कोई शंका बनी रहती थी, जिसे वे, अपने पांडित्य में धक्का लगने के भय से, किसी के सामने प्रगट नहीं कर सकते थे। इन्द्रभूति के मन में 'जीव है या नहीं' यह संशय घुसा हुआ था; अग्निभूति के दिल में 'कर्म कोई पदार्थ है या नहीं' यह चक्कर पड़ा हुआ था; वायुभूति को 'यह शरीर ही जीव है या जीव कोई पृथक पदार्थ है' यह शंका थी; व्यक्त को 'जगत कोई वास्तविक पदार्थ है या शून्य है' यह भाव सता रहा था; सौधर्म्म का मन 'जीव के जन्मातरों के रूपों में समता और विषमता' की उधेड़बुन कर रहा था; मंडित को 'मुक्ति और बंध है या नहीं' इसी बात की पंचायत पड़ी थी, मौर्य देवों ही के अस्तित्व में' शंकाशील थे; अकम्प को 'नरक गति है या नहीं' यह विचार बेचैन कर रहा था; अचलभ्रात को 'पुण्य और पाप' एवं मेतार्य को 'परलोक के अस्तित्व और आत्मा की स्वतन्त्रता' और श्री प्रभास को 'मुक्ति की विद्यमानता' में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प हो रहे थे। परन्तु उनमें से कोई भी अपनी शंकाओं का समाधान औरों से करवाना अपनी न्यूनता समझता था। वे सदा शंकाशील बने रहते थे मगर शंका मिटाने का कुछ भी उपाय नहीं करते थे। उनके सिवाय दिशा विदिशाओं से और भी इतर पंडित लोग भी उस यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। यज्ञ बहुत बड़ा था इसलिए वहां चारों ओर से अपार भीड़ जमा हो रही थी।

एक ओर सोमिल के यहां यज्ञ की धूम हो रही थी। दूसरी ओर भगवान के समवसरण में देवताओं का आगमन तेजी के साथ

हो रहा । अपने-अपने स्वर्गों से देवता लोग उस समवसरण में प्रभु का उपदेश सुनने के लिए आ रहे थे । पहले तो यह कौतुक देख इन्द्रभूति आदि को बहुत ही हर्ष हुआ । वे सोचने लगे कि देवताओं के विमान हमारे यज्ञ की ओर आ रहे हैं सचमुच हमारे मंत्रों में बड़ी ही शक्ति है । परन्तु जब वे देवताओं के विमान सर्वज्ञ भगवान महावीर के समवसरण की ओर जाने लगे तो उन पंडितों का हर्ष विलीन हो गया । वे सोचने लगे कि यह कोई इन्द्रजाल तो नहीं है कि देवतागण कदाचित भूलकर यज्ञ में आने की अपेक्षा कहीं अन्यत्र भटक रहे हैं । इस बात की जब उन्होंने पूछताछ की तो उन्हें पता लगा कि यहाँ कोई महावीर नाम का सर्वज्ञ आया हुआ है उसी के समवसरण में देवता लोग जा रहे हैं । यह बात जानकर इन्द्रभूति आदि विद्वानों को बड़ा क्रोध आया । वे सोचने लगे कि दुनिया में कोई हमसे अधिक विद्वान नहीं है, यह महावीर कहां का सर्वज्ञ है, यह तो अवश्य कोई ढोंगी मायाजाली है इसे चलकर सीधा करना चाहिए और उसके पाखंड की पोल सबकी उपस्थिति में खोलना चाहिए ।

इस प्रकार क्रोधित हो वह इन्द्रभूति वहां से भगवान की ओर चल पड़ा । वह उस समवसरण में आया कि उसकी रचना देख चकित हो गया । फिर वह आगे बढ़ा और अपने पांच सौ शिष्य सहित बिना भगवान को सत्कार तथा विनय किये ही सभा मण्डप में भगवान के सन्मुख उद्दण्डतापूर्वक उपस्थित हुआ । ज्यों ही वह भगवान के सन्मुख आया त्यों ही सर्वज्ञ प्रभु ने उसका नाम लेकर उसे उसके गोत्रीय शब्दों में सम्बोधित किया । फिर तो इन्द्रभूति को कुछ अचम्भा हुआ फिर भी उसने सोचा कि "मैं तो जगत विख्यात

हूँ, मेरा नाम कौन नहीं जानता। मेरे प्रकाण्ड पांडित्य की चर्चा तो चारों ओर फैल रही है कहीं इन्होंने भी मेरा नाम, गोत्र समवसरण में प्रवेश करते वक्त किसी से सुन लिया होगा। इनकी सर्वज्ञता तो मैं तब मानूं, जब ये मेरे मनोगत भावों को अक्षरशः पूरे - पूरे बता दें।"

इतना विचार इन्द्रभूति के मन में आते ही भगवान बोले "पंडितराज ! 'जीव है या नहीं' यह सवाल तुम्हें सता रहा है; वेदों की साधक और बाधक ऋचाओं को पढ़कर आपका मन संदेह से भरा हुआ है। परन्तु आपने वेद वाक्यों को भली भांति समझा ही नहीं। चिंता दूर कीजिये और उन्हीं ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझकर अपने संदेह को मिटाइये।"

तदनन्तर सर्वज्ञ भगवान ने उन्हीं ऋचाओं के अर्थ की विस्तार पूर्वक व्याख्या कर इन्द्रभूति का संदेह दूर किया। उन्होंने सिद्ध किया कि जो जानता है और देखता है वही जीव है और शरीर तो वस्त्रादि की तरह केवल उपभोग की वस्तु है। इसका पूर्ण विवरण जैन-शास्त्रों में उत्तम रीति से कल्पसूत्र और भगवती आदि सूत्रों में पाया जाता है। जिस शंका के सिंधु में इन्द्रभूति गौतम वर्षों से गोते लगा रहा था, वह भगवान के सदोपदेश से बात की बात में किनारे आ लगा। अब भगवान महावीर की सर्वज्ञता में उसे जरा भी सन्देह न रहा, बल्कि उसके पांडित्य का अभिमान भी चूर-चूर हो गया। उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। फिर तो उसने भगवान को नम्रता-पूर्वक नमन किया। और उनका शिष्य होकर दीक्षित होने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की। योग अधिकारी जान प्रभु ने

इन्द्रभूति गौतम को उसके पांच सौ शिष्यों सहित दीक्षा देकर उसे अपना प्रथम शिष्य वनाया।

इन्द्रभूति की दीक्षा की सूचना नगर में विजली की तरह फैल गई। यह सुन अग्निभूति को भी क्रोध आया और वह अपने दिग्गज भाई को एक साधारण वैरागी के मायाजाल से छुड़ाने के हेतु अपने पांच सौ शिष्यों सहित उस समवसरण में आ पहुँचा। उस पर भी वही वीती जो इन्द्रभूति के साथ हुई थी। उसे भी उसी प्रकार सम्वोधित कर भगवान ने उसके मन का "कर्म कोई पदार्थ है कि नहीं" यह संयश निवारण किया। तव तो अग्निभूति को भी भगवान की सर्वज्ञता स्वीकार करनी पड़ी और वह भी अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षित हो भगवान का दूसरा शिष्य हो गया।

इस प्रकार वायुभूति आदि इतर आठ प्रकांड पंडित क्रमश: अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान करने के हेतु अपने शिष्यों सहित भगवान के समवसरण में आये। सर्वज्ञ भगवान महावीर ने उनकी सव शंकाएँ स्याद्वद सिद्धांत के अनुसार वेद ऋचाओं के सही - सही अर्थ द्वारा समाधान कर दी। तव तो उनकी प्रचुर विद्वता का घमंड तापज्वर की तरह उतर गया। वे अपने - अपने शिष्यों सहित जैन धर्म में दीक्षित हो गये। जिसका विस्तारपूर्वक विवरण शास्त्रों में उपलब्ध है।

अब तो उक्त ग्यारह के ग्यारह प्रकांड पंडित अपने ४४०० शिष्यों सहित भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य अर्थात गणधर बन गये। तदनन्तर भगवान ने भी इन्हीं शिष्यों द्वारा 'अहिंसा परमो धर्म:' का अमृतमयी अपूर्व शान्तिदायक सत्य सिद्धान्त देश देशान्तरों में फैलाना आरम्भ कर दिया।

## चन्दनवाला और मेघकुमार आदि की दीक्षा

जब भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और अपापापुरी में इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि तेजस्वी पंडितों ने अपनी हार स्वीकार करके प्रभु की शरण गही तब तो उनके अगाध आत्मबल तप और तेज की महिमा दिशा विदिशाओं में फैलते फैलते कोशाम्बी पहुँची जहां चन्दनवाला रहती थी।

चन्दनवाला ने यह प्रतिज्ञा कर ही ली थी कि प्रभु को केवल ज्ञान होने पर दीक्षा गृहन करुंगी। तदनुसार वह भी अपनी कुछ सहेलियों के साथ प्रभु के पास पहुंची और उनसे अपने को दीक्षित कर लेने की विनम्र प्रार्थना की। प्रभु ने-अपने ज्ञान से उसकी अन्तरात्मा को पहिचान कर उसे दीक्षित कर लिया। उसके साथ अन्य महिलाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने चन्दनवाला को सब ही साध्वियों की मुखिया, ऐसा पद प्रदान किया।

उस समय और भी नर नारियों ने श्रावक और श्राविकाओं का व्रत धारण किया। इस प्रकार साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना हुई। इसके बाद प्रभु के द्वारा गणधर भी उत्पाद, व्यय और ध्रुव, इस त्रिपदी के ज्ञान से प्रतिबोधित किये गये। उसी के आधार पर फिर गणधरों ने 'द्वादशांगी' की उत्तम रचना की।

वहां से विहार कर रास्ते में कई स्थानों पर जगत के दुःखी जीवों को अपने अमृत उपदेश द्वारा शान्ति पहुंचाते हुए प्रभु एक दिन राजगृह में पधारे। प्रभु के आगमन का संदेश वहां के राजा श्रेणिक को मिलते ही उसने उनके दर्शन करने की तैयारी की।

राजपुत्रों ने भी यह संदेश सुना। वे भी प्रभु के दर्शन करने को राजा श्रेणिक के साथ पधारे। भगवान के समीप आकर उन्होंने बड़ी श्रद्धा, भक्ति और विनय सहित प्रभु की वन्दना की। फिर प्रभु ने उन्हें सम्यक्त्व का तत्व समझाया; जिसे सुनकर राजकुमार अभय ने तो उसी समय श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया और मेघ कुमार, जो राजा का जेष्ठ पुत्र था, वैराग्य भाव से परिस्पावित हो गया।

घर पर आकर मेघकुमार अपने माता पिता से बोला 'मेरा मन अब संसार में नहीं लगता, संसार तो मुझे बहुत संतापकारक प्रतीत होता है, मुझे आज्ञा दीजिये तो मैं भगवान महावीर की शरण जाकर, दीक्षा गृहण कर, आत्मा संशोधन करूं।' राजा को यह बात सुनकर बहुत अचंभा हुआ कि भगवान के एक ही दिन के उपपेश ने राजपुत्र के मन में वैराग्य का घर कर लिया। फिर तो राजा ने राजकुमार को बहुतेरा समझाया। उन्होंने एक दिन का राज्य उसे देकर, उसकी महिमा एवं सुख का प्रलोभन दिखाकर उसके चित्त की वृत्तियों को सांसर-सुख की ओर खींचने के कई प्रयास किये; परन्तु वे सब निष्फल हुए। मेघकुमार की वैराग्य भावना ज्यों त्यों सुदृढ़ बनी रही। तब तो राजा को उसे दीक्षा गृहण करने की अनुमति देनी पड़ी। तत्पश्चात् मेघकुमार प्रभु के पास आये और अपने आन्तरिक विचार उनके सन्मुख प्रगट किये। भगवान ने भी उसके परिणामों की रूप रेखा परखकर उसे दीक्षा दे दी।

रात्रि में नव दीक्षित मुनि मेघकुमार को उस स्थान पर सोना पड़ा, जहां से उनके पूर्व दीक्षित साधुओं के आने-जाने का मार्ग था। मुनियों के बाहर जाने आने में अनेक बार मेघ मुनि को उनके पैरों

के प्रहार सहन करने पड़े। वस एक ही रात की इस वेदना ने मेघ मुनि के विचारों में परिवर्तन कर दिया। उनका मन संयम से हट गया। वे सोचने लगे कि 'प्रात: काल ही प्रभु के सन्मुख जाकर में इस व्रत को त्याग दूंगा।' प्रात:काल होते ही मेघमुनि भगवान के पास आये और रात्रि का सब वृतांत सुनाकर संयम व्रत छोड़ देने की अपनी इच्छा प्रगट की। तव प्रभु वोले 'देवानुप्रिय रात्रि की इस छोटी सी वेदनाओं से तुम इतने व्याकुल हो गये; तुम अपने पूर्वभव की वात याद करो। 'तुमने पूर्वभव में क्षणिक उत्तम क्षमा एवं दया के कारण उच्च गति का वांध वांध लिया था। यदि यह वात तुम्हें स्मरण हो जावे तो तुम संयम व्रत छोड़ने के वदले संसार को संयम की ओर खींचने में लग जाओगे' तव तो मेघ मुनि हाथ जोड़कर भगवान से अपने अपूर्व भव की वात वताने के लिए प्रार्थना की।

मेघ मुनि की यह भावना देख प्रभु वोले 'भव्य मेघकुमार! पूर्व भव में तू एक हाथी था। तेरा नाम मेरुप्रभु था तू विंध्याचल के वनप्रदेश में हथिनियों का यूथपनि वनकर रहता था। एक दिन उस वन में भयंकर आग लगी, तव तूने अपनी कुल हथिनियों को साथ लेकर उसी वन के एक जलाशय के निकट लाकर उन्हें विश्राम दिया। अग्नि की ज्वाला से दूसरे वन के प्राणि भी भागकर तेरे विश्राम स्थान में घुस आये। उस समय पड़ोस की आंच के कारण तेरे वदन में कुछ खुजली चली, तव अपने वदन को खुजलाने के लिए तूने अपना एक पाँव ऊपर उठाया, इतने में ही एक भयातुर खरगोश तेरे उस उठाये हुये पैर के नीचे आकर वैठ गया। यह सोचकर कि 'अव यदि पांव नीचे रखा तो यह प्राणी दवकर मर

जायगा, तूने अपना वह पांव दया के कारण पूरे तीन दिन तक ऊपर ही उठा रखा। तीसरे दिन जब अग्नि शांत पड़ी और सब प्राणी वहां से चले गये, तो अपनी प्यास बुझाने के हेतु जलाशय के पास जाने के कारण जमीन पर टिका नहीं और तू धड़ाम से गिरकर उसी समय मर गया। उस तीन ही दिन की पवित्र दया के कारण मरकर इस भव में तू मनुष्य रूप में आकर राजपुत्र बना। अतः अब इस संयम व्रत को धारण कर उसे छोड़ना कायरपन है अब तो तुझे एक वीर की भांति कर्मों पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

भगवान के इस अमृतमय उपदेश को सुन मेघमुनि को स्मरण ज्ञान पैदा हो गया। उसने अपने पूर्व भव की सारी बातें जानली। तब तो मेघमुनि का विचलित मन पुनः संयम व्रत में सुदृढ़ हो गया और उसी दिन से वे कठोर से कठोर तप की आराधना करने लगे।

इसी प्रकार भगवान ने गृहस्थी अवस्था के जामाता जामाली एवं उनकी पुत्री प्रिय दर्शनाजी ने भी भगवान के लोक हितकारक उपदेशों को सुनकर कुण्ड ग्राम में दीक्षा लेली। इनमें से मिथ्यात्व का उदय होने के कारण जामालि तो मिथ्यात्वी ही बने रहे; परन्तु प्रिय दर्शनाजी ने प्रभु की शरण गहकर उत्तम साध्वी जीवन बिताना आरंभ कर दिया।

## ग्रहस्थ अर्थात् श्रावक धर्म

जैन शास्त्रों के पठन से ऐसा प्रतीत होता है कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व यह भारतभूमि स्वर्णमयी भूमि थी। क्योंकि

प्रभु महावीर ने जब गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया तब जिन-जिन गृहस्थियों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया वे सबके सब प्राय: करोड़पति ही थे । जिनकी करोड़पति की गणना चांदी के रुपयों से नहीं, वरन् सोनैया अर्थात सोने की मोहरों से होती थी ।

वाणिज्य गांव में जब प्रभु पधारे तो वहां आनन्द नामक एक सेठ रहता था । वह बारह करोड़ सोनैया का स्वामी था । भगवान के सतोपदेश से उसने श्रावक धर्म स्वीकार किया और उसी दिन से अहिंसा का सच्चा उपासक बन गया ।

भगवान का अहिंसा का उपदेश आत्मशुद्धि का उपदेश था । बिना अहिंसा के आत्मशुद्धि हो ही नहीं सकती । भगवान महावीर ने आत्मशुद्धि के लिए पृथक - पृथक तरीके बताये हैं । ज्यों - ज्यों प्राणी स्वार्थ और तृष्णा को तजता है त्यों-त्यों वह आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होता जाता है । और जब वह पूर्ण निर्विकार रागद्वेष रहित हो जाता है तब ही उसकी पूर्ण विशुद्धि हो जाती है । इसी स्वार्थ और तृष्णा को नष्ट करने के लिए प्रभु महावीर ने पांच बातें बताई हैं । अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह ।

इन अहिंसादि पांच व्रतों के उच्च आदर्श को प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण रूपेण पालन नहीं कर सकता इसलिए प्रभु महावीर ने इसे अणुव्रत और महाव्रत इन दो भागों में बांट दिया । इन दो विभागोंमें बंट जाने से इन में व्यवहारिकता आ गई; तथा साधारण शक्ति वालों के लिए भी आत्म कल्याण का मार्ग खुल गया । अणुव्रत का प्रवृत्ति मार्ग भी निवृत्ति मार्गपर ले जाने वाला बन

गया; अणुव्रत की प्रवृत्ति आत्म - कल्याण में बाधक न बनकर साधक बन गई। मार्ग में निवृत्ति मार्ग के त्याग, तप संयमादि का समावेश उचित रीति से हो जाने के कारण प्रवृत्ति संसार में लिप्त हो जाने के वातावरण से बच गयी।

तदनुसार भगवान महावीर ने समाज को, गृहस्थ और मुनि, इन दो भागों में विभक्त किया। गृहस्थ के लिये अणुव्रतों का तथा मुनियों को महाव्रत पालन करने का आदेश दिया। व्रत दोनों के लिये समान है; अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने गृहस्थ के लिये वे ही पांच व्रत स्थूल रूप से अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार द्रव्य, काल, भाव, क्षेत्र को लक्ष में रखकर पुरुषार्थ सहित पालन करने का आदेश दिया तथा मुनि के लिये वे ही पांच व्रत पूर्व रूप से पालन करने का उपदेश दिया। इस प्रकार मुनि धर्म के साथ ही साथ प्रभु ने श्रावक धर्म का भी उपदेश देना आरंभ किया। आनन्द श्रावक के पश्चात् भगवान ने चम्पानगरी में कामदेवजी श्रावक को श्रावक धर्म का महत्व समझाया। उनके पास अठरह करोड़ सोनेयों की सम्पति थी। प्रभु के सतोपदेश से उन्होंने सब प्रकार के प्रमादों का त्याग कर दिया; और प्रभु के उत्तम श्रावक बन गये। वाणारसी और आलम्बिका में भगवान के उपदेश से भिन्न - भिन्न बस्तियों में चुलणीपियाजी, सुरादेवजी चूलशतकादिने श्रावकों के उत्तम धर्मों को धारण किया। फिर भगवान कपिलपुर पधारे। वहां कुंडकौलिक को धर्मोपदेश दिया। यह कुण्डकौलिक ग्यारह करोड़ सौनेयों का स्वामी था और इनके पास साठ हजार गायें भी थीं। भगवान के उपदेश का इन पर इतना प्रभाव पड़ा कि [illegible] दिन से श्रावक धर्म पालते हुए

जप, तप, संयमादि की उत्तम क्रियाओं में संलग्न रहने लगे। एक समय जब कुण्डकौलिक सामायिक कर रहे थे तब इनके दृढ़ निश्चय की परीक्षा करने के लिये एक देव आकर बोला "हे कुण्डकौलिक! तू गौशाला प्ररुपित नियतिवाद के सिद्धान्त पर क्यों नहीं चलता जो होने वाला है वह तो होकर ही रहेगा; व्यर्थ के क्रिया का एड़ों द्वारा उठाने से क्या फायदा है इत्यादि" तब तो कुण्डकौलिकजी ने कहा "देव! तेरा कहना कदाचित् ठीक भी हो, परन्तु जो बात प्रत्यक्ष है उसे प्रमाण की क्या जरूरत है, यम और नियमादि में यदि कुछ नहीं है तो तुझे यह देव ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई।" तब देव बोला "मुझे तो बिना ही यम नियमादि के देव गति प्राप्त हुई है।" कुण्डकौलिकजी ने उत्तर दिया कि "यदि ऐसा ही है तो जगत के अनेकों जीव जो कुछ भी धर्म-कर्म नहीं करते वे सबके सब देव क्यों नहीं बन गये।" इस पर देव चुप होकर वहां से चला गया और कुण्डकौलिक अपने धर्म कर्म में और दृढ़ बन गया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने अनेक पुरूषों को श्रावक धर्म का उपदेश दिया और उन्हें मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर दिया। इन्हीं श्रावकों द्वारा बनवाये हुए चित्ताकर्षक विशाल मन्दिर एवं पुरातन पाठगृह और बिंबादि अनेक स्थानों में आज भी भारतवर्ष में विद्यमान हैं और जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन स्थान - स्थान पर जैन शास्त्रों में उपलब्ध है।



# पुरुषार्थ और पराक्रम

## कुम्भकार सद्दाल पुत्र का संशय छेदन

स्थान-स्थान विचरते हुए एक दिन प्रभु पोलासपुर पधारे। वहां सद्दाल पुत्र नाम का कुम्हार रहता था। वह गौशाला का कट्टर अनुयायी था। वह अपने गुरु के 'नियतिवाद' के सिद्धांतों को इस प्रकार अपना चुका था कि वड़े से बड़े विद्वान उसका सामना नहीं करते थे। उसका यह सिद्धांत था कि 'संसार में जो वस्तु अथवा होनहार होने वाली होती है वह अवश्य होकर रहती है; उसमें किसी वात का विचार विनिमय करने की एवं उपाय रचने की कोई आवश्यकता ही नहीं।'

एक दिन प्रभु अपने उपदेश में श्रोताओं को पुरुषार्थों की महिमा एवं समयानुकूल पराक्रम का उपदेश एवं आत्मरक्षा हेतु समझा रहे थे। उस समय सद्दाल पुत्र भी वहां बैठा हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ एवं आत्म रक्षा के हेतु पराक्रम, बल, और वीर्य का विवेचन सुन रहा था। परन्तु उसके मन में गौशाला का नियतिवाद ही घर कर बैठा था। उसे प्रभु की सर्वज्ञता पर संदेह था तिस पर भी भगवान के प्रति आदर सत्कार की भावना उसके मन में जागृत ही रही थी। उसी से प्रेरित हो, व्याख्यान खत्म होने के वाद उसने प्रभु के चरणों में नमन किया और प्रार्थना की कि 'भगवन्! इसी नगर के वाहर मेरी दूकानें हैं। अच्छा हो कि मेरी शंका निवारण करने के लिए कुछ काल तक आप वहां ठहरें।' भगवान ने सद्दालकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वहीं पधार गये।

एक दिन जब सद्दाल के नौकर उसके बनाये हुए मिट्टी के बरतनों को धूप में सुखा रहे थे, तब प्रभु ने पूछा "सद्दाल! कहो ये बर्तन किस प्रकार बनायें हैं?" सद्दाल ने उत्तर दिया, पहले मिट्टी लाया, उसमें पानी और राख मिलाई, फिर उसकी लुगदी चाक पर चढ़ाकर इच्छानुकूल बर्तन बना लिये गये।" इस पर प्रभु ने फिर पूछा, 'सद्दाल! इनके बनाने में बल वीर्य, पुरुषार्थ, परिश्रमादि लगे या नहीं; या ये योंहीं बनकर तैयार हो गये।" सद्दाल बोला 'नहीं प्रभु! ये योंही बनकर तैयार हो गये; यही तो मेरे गुरु का सिद्धान्त है। जो वस्तु भावी के बल जैसी भी होती है, होकर रहती है। उसमें किसी भी प्रकार के क्रियाकांड और परिश्रम का अवलम्बन नहीं माना जाता।" इस पर प्रभु ने उससे कहा "क्यों सद्दाल। यदि तेरे इन बर्तनों को कोई चोर उठा ले जावे; या इन्हें कोई तोड़-फोड़ डाले; अथवा कोई आकर तेरी स्त्री का सतीत्व हरना चाहे तो इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के साथ तू किस प्रकार बर्ताव करेगा?" सद्दाल ने कहा "भगवान बर्ताव की बात ही क्या? उसे तो लात, घूंसे थप्पड़ों से सीधा करूंगा और बने तो जिन्दा भी न छोड़ूंगा।" प्रभु बोले "सद्दाल! विचार कर बोल। तू स्वयं अपने सिद्धान्तों की हत्या न कर। तेरे सिद्धान्त के अनुसार तो जो होने वाला होता है वह तो होकर ही रहता है। बर्तनों का चुराना, तोड़ना फोड़ना, पत्नी के पतिव्रत धर्म को हानि पहुंचाना इत्यादि, बिना किसी प्रकार के उत्थान बल, वीर्य, पुरुषार्थ के तेरे मतानुसार होने वाला है वह तो होकर ही रहेगा। तुझे इन्हें रोकने के लिये लात, घूंसे और जान लेने की आवश्यकता ही क्या है।" प्रभु की इस वाणी को सुन सद्दाल का भ्रम दूर हो गया। उसने अपने सिद्धान्त का खोखलापन जान लिया। वह प्रभु के चरणों में आ गिरा

और बोला "सर्वज्ञ। आपतो घट-घट की जानते हैं। आपका स्याद्वाद सिद्धान्त मैं आज तक सुनता ही था अब तो उस पर मेरी पूर्ण श्रद्धा हो गई है। मुझे भी अपना शिष्य बनाकर स्याद् वाद के सिद्धान्त को मेरे हृदय में उतारिये। और आपकी शरणागति प्रदान कीजिये।" इस पर भगवान ने उसे स्याद्वद धर्म के सत् सिद्धान्तों का महत्व समझाया और उसे श्रावक धर्म की दीक्षा देकर वहां से गमन कर दिया। वहां से राजगृह में पधारकर चौवीस करोड़ स्वर्ण मुद्रा के धनी महाशतक और उनकी पत्नी रेवती को भी श्रावक धर्म के बारह व्रतों से विभूषित किया।

## राजर्षि प्रसन्नचन्द्र

मुनि एवं गृहस्थ धर्म का सुन्दर उपदेश देते हुए वो स्थान-स्थान पर पुरुषार्थ और पराक्रम की सुन्दर महिमा का प्ररूपण करते हुए अनुक्रम से विहार करते-करते प्रभु महावीर पोतनपुर की ओर जा निकले। उस समय वहां राजा प्रसन्नचन्द्र राज्य करता था। ज्यों ही प्रभु उसके नगर में पधारे तो उस नगर के बाहर मनोरम नामक उद्यान में देवताओं ने समवसरण की रचना की। वहां का राजा प्रसन्नचन्द्र उसी समय प्रभु की वंदना करने आया। प्रभु की देशना सुन उसको उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह अपने घर आया और राजकाज का भार अपने लड़के को सौंप, उसे मंत्रि-ओं के हवाले करके, प्रभु के पास आकर दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् राजर्षि प्रसन्नचन्द्र भगवान के साथ-साथ बिहार करने लगे।

कुछ समय पश्चात् भगवान महावीर राजगृह नगरी में पधारे। यह समाचार सुन हर्षायमान हो राजा श्रेणिक सह कुटुम्ब प्रभु की वन्दना करने को रवाना हुआ। उसकी सेवा के अग्रगामी सुमुख

और दुर्मुख दो मिथ्यादृष्टि सेनापति आपस में वातचीत करते हुए आगे-आगे चल रहे थे। मार्ग में उन्होंने प्रसन्नचन्द्र मुनि को एक पैर पर खड़े और ऊंचे हाथ किये हुए; आतापना करते हुए देखा। उन्हें देखकर सुमुख बोला; ऐसी कठिन तपस्या करने वाले के लिए स्वर्ग और मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' यह सुनकर दुर्मुख बोला, 'अरे यह तो पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। इसने अपने छोटे से लड़के को अपना वड़ा राज्य देकर कितनी विपत्ति में डाल दिया है। उसके मंत्री चम्पानगरी के राजा दधिवाहन से जा मिले हैं और उन्होंने उसका राज्य छुड़ा लेने के लिए उस पर चढ़ाई कर दी है। इसी प्रकार इसकी रानियां भी राज्य छोड़कर चली गई हैं। यह कोई धर्म है।' इन वचनों ने प्रसन्नचन्द्र के ध्यान को विचलित कर दिया और वे सोचने लगे 'अरे मेरे उन अकृतज्ञ मंत्रियों को वारम्बार धिक्कार है। यदि इस समय में वहां उपस्थित होता तो उन्हें इस विश्वासघात का फल चखाता।' ऐसे संकल्प विकल्पों से व्याकुल होकर प्रसन्नचन्द्र मुनि अपने मुनिव्रत को भूल गये और अपने को राजा समझकर मन ही मन मंत्रियों के साथ युद्ध करने लगे।

इतने ही में राजा श्रेणिक की सवारी वहां आ पहुंची और उसने प्रसन्नचन्द्र मुनि की विनयपूर्वक वन्दना की। वहां से चलकर वह वीर प्रभु के समीप आया और दर्शन, वंदनाकर विनय सहित उसने प्रभु से पूछा, 'हे प्रभु! इस प्रकार उग्र अवस्था में यदि मुनि प्रसन्नचन्द्र की मृत्यु हो जावे तो उन्हें कौन सी गति प्राप्त होगी? प्रभु ने उत्तर दिया 'कि वे सातवें नरक में जायंगे।' यह सुनकर राजा श्रेणिक बड़े विचार में पड़ गये। क्योंकि राजा श्रेणिक ने यह सुना था कि मुनि कभी नर्क में जाते ही नहीं। अतएव उसने

सोचा कि कहीं उसके सुनने में फरक न पड़ गया हो उसने फिर से पूछा 'भगवन् यदि मुनि प्रसन्नचन्द्र इस समय मृत्यु पा जाय तो कौन सी गति में जायंगे ?' प्रभुने कहा कि –'अब वे सर्वार्थ सिद्धि विमान में जायंगे।' राजा श्रेणिक अब तो चक्कर में पड़ गये। उन्होंने पूछा भगवन् ! आपने एक ही क्षण के अन्तर पर दो बातें एक दूसरी से विपरीत कहीं इसका कारण क्या है। मेरे इस संशय को मेटिये।

तब प्रभु ने राजा की उत्कंठा देख उसे यों कहा–श्रेणिक ! ध्यान के भेद में प्रसन्नचन्द्र मुनि की अवस्था दो प्रकार की हो गई। पहिले दुर्मुख के वचनों से प्रसन्नमुनि अत्यन्त क्रोधित हो अपने मंत्रियों से मन ही मन युद्ध कर रहे थे; उसी समय तुमने उनकी वंदना की थी; और आकर मुझ से प्रश्न पूछा था। उस समय उनकी स्थिति नरकगति के योग्य हो रही थी। उसके पश्चात् उन्होंने मन में विचार कि अब तो मेरे सब शस्त्र खूट गये, इसलिये अब मैं शिरस्त्राण से ही शत्रुओं का नाश करूंगा। ऐसा सोचकर उन्होंने अपना हाथ सिर पर फेरा। वहां अपने लोच किये हुए चिकने सिर को देख, उन्हें तत्काल अपने मुनि व्रत का स्मरण हो आया जिससे उन्हें अपने किये का बहुत पश्चाताप हुआ। अपने इस कृत्य की आलोचनाकर वे फिर शुक्ल ध्यान में मग्न हो गये। उसी समय तुमने पुनः दूसरा प्रश्न किया। और उसी कारण तुम्हारे दूसरे प्रश्न का उत्तर दूसरा दिया गया।

इस प्रकार श्रेणिक और सर्वज्ञ भगवान की बातचीत हो ही रही थी कि इतने में ही प्रसन्नचन्द्र मुनि के समीप देव दुन्दुभि वगैरः की गगन भेदी आवाज सुनाई देने लगी। उसे सुनकर श्रेणिक ने पूछा-

'स्वामी! यह क्या हुआ।' प्रभु ने कहा—'ध्यानस्थ मुनि प्रसन्नचन्द्र को इसी क्षण केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है। देवता लोग उसी की खुशी मना रहे हैं।'

## सत्याग्रहि सेठ सुदर्शन और अर्जुन माली

कई स्थानों पर विचरते हुए एक बार फिर भगवान राजगृही में पधारे। भगवान के पधारने की सूचना मिलते ही सारा नगर आनन्द से उमड़ उठा। उस नगरी के सुदर्शन सेठ की इच्छा भी प्रभु के दर्शनार्थ जागृत हुई। उनका मन भगवान के प्रति प्रेम और भक्ति से भर गया। वे तुरन्त ही अपने माता-पिता के पास आये और प्रभु के दर्शन के लिए जाने की आज्ञा मांगी। माता-पिता ने उनकी विनंती अस्वीकार कर दी। वे बोले—'बेटा! अर्जुन माली के शरीर में एक असुर प्रवेश कर गया है। वह गांव के बाहर घूमता फिरता है और प्रतिदिन छै पुरुष और एक स्त्री का प्राण अपहरण करता है। यही कारण है कि राजा ने भी अकेले शहर के बाहर जाने की मनाई कर दी है। इस लिए तुम यहीं से प्रभु की वन्दना कर लो। वे सर्वज्ञ है तुम्हारी भाव भक्ति और वन्दना को वे अवश्य स्वीकार कर लेंगे।' परन्तु सत्य और प्रेम पर डटा हुआ मनुष्य ऐसी भीरुता की बात ही कैसे सुन सकता है। सेठ सुदर्शन तो अहिंसा, सत्य, प्रेम और भक्ति से सने हुए थे, वे अपने हृदय में प्रभु-भक्ति को स्थान दे चुके थे। भय के लिए उनके साहसी हृदय में जगह ही न थी। सत्य, भक्ति को लेकर मस्त-प्रभु चरणों के दर्शनार्थ पिता की आज्ञा लेकर सेठ सुदर्शन भगवान की ओर चल पड़े। वे मन ही मन सोचने लगे कि सत्य की महिमा और आत्मशक्ति के आगे शारीरिक राक्षसी

शक्ति की हस्ती ही क्या है जो अविनाशी आत्मा पर घात पहुंचा सके। अगर भगवान के प्रति मेरी सच्ची भक्ति है तो अर्जुन माली मेरा बिगाड़ ही क्या सकता है क्योंकि सत्य की तो सदैव विजय होती है। इस प्रकार विचार करते हुए सेठ सुदर्शन गांव के बाहर आ गये। थोड़ी देर के बाद अर्जुन माली की दृष्टि सेठ पर पड़ी। वह अपना मुग्दर लेकर शेर की तरह लपकता हुआ वहां आ पहुंचा। अर्जुन की इस लपक से सेठ तिलमात्र भयभीत न हुए, अपितु प्रभु का ध्यान करते हुए परम शांति और प्रसन्नता के साथ जमीन पर बैठ गये। अर्जुन ने पास आते ही मुग्दर उठाया और सुदर्शन को मारना चाहा। ज्यों ही उसने अपना मुग्दर सिर पर उठाया त्यों ही उसके हाथ वहीं के वहीं रह गये। बहुतेरा प्रयत्न करने पर भी उसके हाथ नीचे न आ सके। यह देखकर अपनी शक्ति पर उसे बड़ा ही क्रोध आया। लज्जा के मारे वह इधर-उधर झुंझलाने लगा और टकटकी लगाकर सुदर्शनजी की ओर देखने लगा। अन्त में जब अर्जुन ने अपने मन ही मन हर प्रकार से हार मान ली तब तो उसके शरीर में जो असुर गत छै महीनों से घुसा हुआ था छोड़कर भाग गया। इसके बाद अर्जुन अचेत हो धरती पर गिर पड़ा। सेठ सुदर्शन के सत्याग्रह की पूर्ण विजय हुई।

थोड़ी देर बाद जब अर्जुन को चेत हुआ तब तो उसने बड़ी नम्रता से सुदर्शनजी से पूछा- 'भाई ! आप कौन हैं ? कहां रहते हैं और कहां जा रहे हैं ?' सुदर्शनजी ने कहा- 'भाई ! मेरा नाम सुदर्शन है; मैं इसी गांव में रहता हूं और श्रमण भगवान महावीर के दर्शन तथा वन्दना को जा रहूं।' यह सुन अर्जुन का मन भी भगवान के दर्शन, वन्दनादि के लिये अकुलाया। वह बोला- 'भाई !

सुदर्शन ! मैं तो जाति का माली हूं; मेरी भी इच्छा भगवान के दर्शन करने की है; उनके उपदेश सुनकर मैं अपना जन्म सफल करना चाहता हूँ। आपके साथ चलकर क्या भगवान तक मेरी भी पहुंच सम्भव है ?' इस पर सुदर्शनजी बोले – 'निस्सन्देह ! तुम एक बार क्या, सौ बार भगवान की शरण में परम हर्ष के साथ जा सकते हो। जाति-पाति का वहाँ कोई भी भेद नहीं है। उनके शिष्य और शरणागत होने में देश, काल और पात्र जरा भी बाधक नहीं बनते। तुम अवश्यमेव मेरे साथ वहाँ चल सकते हो।'

यह सुनकर हर्षायमान हो अर्जुन सेठ सुदर्शन के साथ भगवान के पास जाने को उठ खड़ा हुआ। वे दोनों भगवान के पास आये। विधिवत् वन्दन कर वे भगवान के सामने बैठ गये। परम सुन्दर, जगत हितकारी भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शनजी तो अपने घर को आ गये और अर्जुन माली भगवान का शिष्य बनकर वहीं रहने लगा।

अब तो वह अर्जुन पहले का नर-संहारक अर्जुन न रहा। भगवान के उपदेशामृत से उसने बेले-बेले की तपस्या आरंभ कर दी। अर्थात् दो-दो दिन अनशन और एक दिन भोजन करने लगा। जिस दिन अर्जुन पारणे के लिये भोजन सामग्री उस गांव में लेने को जाता तो गांव के लोग उसे पूर्ववत् हिंसक समझकर नाना प्रकार की यातनाएं देते और कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि वहाँ से उसे बिना भोजन ही लौट आना पड़ता था। उन सारी यातनाओं को अर्जुन मुनि हंस-हंस कर सहते और कभी रोष एवं क्रोध न करते। पूर्वकृत कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा ऐसा समझकर अर्जुन मुनि अपने कर्ज को चुकाते। यों अर्जुन मुनि

राग द्वेष रहित होकर जो कुछ मिलता उसी में संतोष मानते हुए अपने कर्मों की निर्जरा करते रहते थे। इस प्रकार सन्तोष, क्षमा, अहिंसा, अमान और अक्रोधादि सत्भावना से युक्त छै माह की तपस्या कर अर्जुन मुनि सत्संग द्वारा भव सागर पार कर गये।

पश्चात् इसी राजगृह में कासव, वीर, और मेघ नामक व्यक्ति भगवान की शरण में आये और दीक्षा गृहण करली। तदनन्तर काकन्दी निवासी क्षेम और धतिधर, साकेत ग्राम के कैलाश और हरिचन्दन, श्रीवस्ति के श्रमणभद्र और सुप्रतिष्ठ तथा सुदर्शन आदि गाथापतियों ने भगवान से क्रमशः दीक्षा धारण की, और जप तप करके अन्त में इन सब ही ने मुक्ति मार्ग सम्पादन कर लिया।

## एवन्तकुमार

पोलासपुर के राजा विक्रम का पुत्र, एवन्तकुमार, एक समय कुछ लड़कों के साथ खेल रहा था। उस समय उस नगरी में पधारे हुए भगवान महावीर के साथ गौतम स्वामी भी थे। गौतम स्वामी अपने बेले के पारणे के हेतु भगवान की आज्ञा लेकर आहार के लिए बस्ती में पधारे। खेलते हुए बालक एवन्तकुमार ने मुनि को इधर-उधर जाता देख उनसे पूछा कि 'आप कौन हैं? इधर-उधर क्यों फिर रहे हैं?' गौतम स्वामी ने उत्तर दिया 'हम निर्ग्रन्थ साधु हैं और अनैमित्तिक आहार पानी की खोज में घूम रहे हैं।' यह सुनकर राजकुमार ने गौतम स्वामी की अंगुली पकड़कर अपने राजमहल में ले आया और अनैमित्तिक आहार पानी उन्हें वहरा दिया। इस पर राजकुमार की माता बहुत प्रसन्न हुई और अपने तथा राजा के भाग्य

को बारम्बार सराहने लगी। जब गौतम स्वामी वापस जाने लगे तो राजकुमार ने उनके ठहरने का पता पूछा। गौतम स्वामी बोले 'नगर के बाहर जहाँ मेरे धर्म गुरु भगवान महावीर ठहरे हुए हैं उन्हीं के साथ मैं भी हूं।' तब तो राजकुमार ने भी प्रभु के दर्शन करने की इच्छा प्रगट की और गौतम स्वामी के साथ चल पड़े। भगवान के पास पहुँचकर राजकुमार ने बड़े प्रेम और भक्ति पूर्वक प्रभु की वंदना की और कुछ धर्म उपदेश सुनने के लिए वे उनके सम्मुख बैठ गये।

प्रभु की दिव्य वाणी का उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि उनका मन वैराग्य से भर गया। वे दीक्षाव्रत धारण करने के लिए माता पिता की आज्ञा लेने को राजमहल में आये। माता-पिता और पुत्र के बीच बहुत देर तक वार्तालाप होने पर विवश हो राजा रानी ने पुत्र को दीक्षित होने की आज्ञा दे दी। एवन्त-कुमार आज्ञा लेकर शीघ्रातिशीघ्र भगवान महावीर की शरण में आये। प्रभु ने उन्हें पात्र जानकर दीक्षित कर लिया।

एक दिन नवदीक्षित एवन्तकुमार शौचादि के लिए बाहर गये हुये थे। रास्ते में बहुत वर्षा हुई और पानी की धारें बह चली। वहाँ मुनि ने मिट्टी की एक पार बांधी। पार के पीछे बहुत पानी जमा हो गया। उसी गंदले पानी में मुनि एवन्तकुमार अपना पात्र तिराने लगे। बाल मुनि की यह क्रिया अन्य मुनियों को बहुत बुरी लगी ऐसी बाल दीक्षा के कुपरिणामों का प्रभु के सन्मुख वर्णन कर वे भगवान पर आक्षेप करने लगे। फिर सर्वज्ञ प्रभु ने उन्हें बहुत ही शांत भाव से समझाया। वे बोले कि 'समय पालन में और आत्म कल्याण करने में वय का आधार नहीं लिया जा सकता।' बाल मुनि की ओर संकेत कर प्रभु ने कहा-

'मुनियों! अपने पात्र को इस गंदले पानी में तिराने का वालमुनि का यही उद्देश्य था कि वे अपनी आत्मा को भी इस गंदले संसार-सागर से कठोर प्रयत्न करके तिराकर पार ले जावेंगे।' यह सुनकर अन्य मुनि तो अपना सा मुंह लेकर रह गये; और वाल-मुनि ने प्रभु की उस वाणी को अपनी क्रिया में उतारने का निश्चय कर लिया तथा उसमें अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर पार-गामी हो गये।

## शालिभद्र और धनामुनि

वाराणसी के उस समय के राजा अलख को दीक्षा देते हुए तथा अपने सतपदेश से भव्य जीवों को प्रतिवोधित करते हुए एक समय प्रभु महावीर पुन: राजगृह में पधारे। इस समय उसी नगर में एक कोटयावीश शालिभद्र नामक सेठ रहता था। भगवान की शरण में आकर अपने राजसी वैभव को ठुकराकर उसने दीक्षा ग्रहण की। ये शालिभद्रजी इतनी वड़ी सम्पति के स्वामी कैसे वने, उसका एक दम त्याग उन्होंने कैसे कर दिया, उनकी पूर्व करणी कैसी थी इत्यादि वातों का संक्षिप्त वर्णन शास्त्रानुसार इस प्रकार है—

राजगृह के समीप किसी समय शालि नाम की एक छोटीसी वस्ती थी। उसमें धन्या नाम की एक गरीव स्त्री रहती थी। जव यह स्त्री उस गांव में आकर वसी थी उस समय उसका केवल एक छोटा-सा पुत्र ही उसकी सम्पति रूप था। उसके पुत्र का नाम संगम था। जव संगम थोड़ा वड़ा हुआ तो उसने गांव के ढोरों को चराने का काम लिया। आजीविका का कोई दूसरा साधन न होने के कारण धन्या को यही कमाई अंधे को लकड़ी का सहारा के समान हुई।

एक दिन किसी पर्वोत्सव के कारण गाँव में खीर पूड़ी वगैरः के पकवान घर - घर में बने । सँगम ने लोगों से इसका कारण पूछा और उसका दिल खीर खाने को ललचाया । वह उसी समय अपनी माता के पास आया और रोते हुए माता से खीर माँगी । अपने दीन हीन बच्चे की ऐसी दशा देख और अपनी गरीबी पर पश्चाताप कर उसकी छाती भर आई । वह रोती हुई अपने प्रिय बालक का मुख चूम कर बोली 'बेटा ! दुर्दिन की मारी हुई आज मेरे पास एक पैसा भी नहीं है' परन्तु सँगम भोला था वह तो खीर - खीर करके जोर - जोर से रोने लगा। तब तो पड़ोसियों को माँ बेटे की दीन हीन दशा पर तरस आया और उन्होंने उस बच्चे के लिए खीर का सामान जुटा दिया। माता ने खीर बनाकर बच्चे को परोस दिया और किसी दूसरे काम में लग गई । इतने में ही वहाँ आहार - पानी के लिए एक मुनिराज का आगमन हुआ । वे एक मास के उपवास धारी मुनि थे । आज ही उनके पारणे का दिन था । बालक ने ज्यों हि मुनि को देखा तो उसके मन में भी धनी लोगों के समान मुनि को आहार कराने की इच्छा उत्पन्न हो गई। तुरन्त उसने मुनिमहाराज को बुलाया और अपनी थाली की आधी खीर लकीर पाड़कर मुनिजी को देने का निश्चय कर लिया । ज्यों हि उसने अपनी थाली की आधी खीर मुनि के पात्र में डालने को थाली को टेड़ी की त्यों हि सारी खीर उनके पात्र में जा गिरी तब बालक का मन और भी हर्षायमान हुआ । वह सोचने लगा कि लोग तो बुलाबुलाकर मुनि को भोजन कराते हैं तब भी वे नहीं लेते मगर आज मेरे भाग्य प्रबल है कि सारी खीर मुनिमहाराज ने गृहण कर ली । मुनिजी तो लेकर चले

गये परन्तु सँगम खाली थाली ही चाटता रहा थोड़ी देर वाद सँगम की माता आ गई। तव तो वह सोचने लगी कि मेरा प्यारा पुत्र रोज इतना ही भूखा रहता होगा। वह मन ही मन अपने भाग्य को कोसने लगी।

इस प्रकार माता का दृष्टि दोप होते ही सँगम के पेट में शूल की पीड़ा आरम्भ हो गयी परन्तु उसके सरल प्रणामों में किसी तरह की वाधा नहीं पहुँची। पेट का दर्द इतना वढ़ गया कि पड़ोसियों की कोई भी औपधियाँ सफल न हुई और अन्त में उसके मन में उन्हीं मुनियों के दर्शन की शुभ भावना पैदा हुई और उसी दशा में वह अपनी माता धन्या को सदा के लिए पुत्रविहीन करके परलोक को सिधार गया।

अन्त समय के शुभ परिणामों के कारण सँगम की आत्मा राजग्रहि नगर के प्रसिद्ध गोभद्र सेठ की धर्म पत्नी भद्रा के उदर में आई। गोभद्र वहुत ही धनवान सेठ थे। उन्होंने भद्रा की सम्पूर्ण दाहद चाह प्रेमपूर्वक पूरी की। प्रसूति का समय निकट आया और भद्रा ने शुभ घड़ी में एक अति ही सुन्दर होनहार पुत्र रत्न को जन्म दिया। जिसका नाम शालिभद्र रखा गया।

गोभद्र सेठ वहुत ही धर्मपरायण थे। उनका चित्त सदा जिनेश्वर पूजन में ही लगा रहता था। उनका व्यापार भी चारों ओर फैला हुआ था। इस कारण उन्होंने जगत ख्याति प्राप्त कर ली थी। जव शालिभद्र वड़े हुए तव पिता ने उनके विवाह की सोची। गोभद्र की ख्याति के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह शालिभद्र के साथ करने की इच्छा करने लगा। गोभद्र के पास अटूट धन था और पुत्र भी सुदृढ़ अवयवों से परिपूर्ण वलवान और वहात्तर कलाओं में निपुण हो चुका था। इसलिए उसने एक से एक

रूप लावण्य कन्याओं के साथ एक-एक करके शालिभद्र के बत्तीस विवाह किये। अब तो शालिभद्र भांति-भाति के सांसारिक सुख भोगने लगे। यहाँ तक कि उन्हें सूर्य के उदय और अस्त होने तक का भान न रहा।

शालिभद्र तो इस तरह विषयों में आसक्त था और उस ओर सेठ गोभद्र ने प्रभु दर्शन की अभिलाषा प्रगट की। ज्यों ही वे प्रभु दर्शन को गये और वहीं उन्हें वैराग्य हो आया और दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के बाद शीघ्र ही उनका निधन हो गया और वे स्वर्गस्थ हो गये।

स्वर्गस्थ गोभद्र मुनि की आत्मा ने संसारी पुत्र शालिभद्र की पूर्व जन्म की मुनि को खीरदान की पुन्याई अवधि ज्ञान से देखी और उस पर मोहित हो गई। तब तो उस आत्मा ने अपने पुत्र के भंडार अपने दिव्य प्रभाव से भरना आरंभ कर दिया ताकि उसके सुख की सामग्री सदैव परिपूरित रहे। इधर अपने वैधव्य विषाद से दुखी होने पर भी, अपने प्राणप्रिय पुत्र के सुखोपभोग में किसी तरह की कमी न हो इस कारण शालिभद्र की माता भद्रा भी गृहस्थी के सारे कामकाज सम्हालने में व्यस्त रहने लगी और शालिभद्र अपने दिन सांसारिक सुख में बिताने लगे।

एक दिन की बात है कि राजगृहि के राजा सम्राट श्रेणिक के दरबार में कुछ व्यापारी लोग पहुँचे और राजा को अपनी रत्न-कम्बलें दिखाई। मोल पूछने पर व्यापारियों ने कहा कि राजन्! कम्बलों का मोल सवा लाख सोनेया ( सोने की मोहर ) है और उनका गुण यह है कि रत्नजड़ित होने पर भी जब ये मैली हो जाती हैं तो अग्नि में धरने से ये साफ होती हैं। विज्ञानवेत्ता

लोग विचार करें कि उस समय भारत में वस्तुओं के परस्पर विपरीत गुणों का समावेश कैसा किया जाता था । कम्वलों की कीमत सुन कर राजा अवाक हो गये और उन्हें लेने से इन्कार कर दिया । तव तो व्यापारी लोग उदास हो गये और शहर के वाहर पनघट पर डेरा डाल दिया ।

सेठ शालिभद्र की पनिहारिया पानी भरने को पनघट पर आई और परदेशी व्यापारियों को उदास देख उनसे पूछा, 'भाई तुम लोग कौन हो और क्या व्यापार करते हो । तुम्हारे पर इतनी उदासी क्यों है ?' तव तो उन पनहारियों से उन्होंने आद्यन्त सव कहानी सुनाई । व्यापारियों की वात सुनकर पनिहारियों ने कहा 'भाई उदास होने की कोई वात नहीं है । इस नगर में सेठ शालिभद्र की माता भद्रा वहुत धनाढच और दयालु हैं उनके पास चलिये । वे तुम्हारे सव कम्वल ले लेवेंगी ।'

यह सुन व्यापारियों के हृदय में आशा के फूल फूले और वे उन पनिहारियों के साथ भद्रा सेठानी के यहाँ आये । उन्होंने अपने कम्वल और उनके गुण सेठानी को वतलाये । कम्वलों के अद्वितीय गुण सुन माता भद्रा ने पूछा कि 'हे व्यापारियों ! ऐसे कितने कम्वल आपके पास हैं ।' व्यापारियों ने उत्तर दिया 'माताजी ! ऐसे कम्बल तो हमारे पास १६ हैं । माता भद्रा ने उससे वत्तीस माँगी क्योंकि शालिभद्र की तो वत्तीस स्त्रियाँ थी । परन्तु उन लोगों के पास ३२ कम्वलें न होने के कारण भद्रा ने उन सोलहों कम्बलों को खरीद लिया और व्यापारियों को मुंह माँगा मोल चुकाकर विदा किया ।

अब उन १६ कम्बलों के ३२ टुकड़े कर माता भद्रा ने शालिभद्र की एक-एक स्त्री को एक-एक टुकड़ा ओढ़ने को भिजवा दिया। सास की भेजी हुई वस्तु का अपमान न हो यह समझकर उन बहुओं ने उन्हें एक रात्रि को तो ओढ़ा और दूसरे दिन सवेरे अंग में चुभने के कारण उन्हें बाहर फेंक दिया। सवेरे ज्यों हि झाड़ने वाली झाड़ने को आई त्यों हि उसकी दृष्टि इन कम्बलों पर पड़ी, वह उन्हें बटोरकर घर ले गयी। और दूसरे दिन उनमें का एक कम्बल ओढ़ कर राजा श्रेणिक के दरबार में झाड़ने के लिए गई। इस कम्बलों को झाड़नेवाली के अंग पर देख राजा को बहुत ही अचम्भा हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा कि ओह! जिन कम्बलों को मैं न खरीद सका उन्हें एक झाड़नेवाली ने ले लिया। क्या मेरे राज्य में मुझसे भी धनाढ्य लोग रहते हैं। इस झाड़नहारी को बुलाकर पूछना चाहिए। इतना विचार मन में आते ही राजा ने उसे बुलाया और पूछा कि यह कम्बल तूने कहां से पाई? उसने सब बात जैसी हुई थी कह सुनाई। उसकी बात सुन राजा की इच्छा हुई कि मेरी नगरी में इतना धनाढ्य सेठ रहता है उससे अवश्य मिलना चाहिये।

यह सोच राजा श्रेणिक अपने मंत्रियों के साथ शालिभद्र के भवन की ओर रवाना हुआ। सूचना पाकर सेठानी भद्रा राजा के स्वागतार्थ रवाना हुई। अपने द्वार पर राजा श्रेणिक को देख अपने और अपने पुत्र के भाग्य की मन ही मन सराहना करने लगी। उसने पूर्ण सामग्री के साथ राजा का स्वागत किया तत्पश्चात उसने नम्रता पूर्वक राजा को भवन में प्रवेश करने के लिये संकेत किया। ज्यों हि राजा श्रेणिक ने पहले मंजिल में प्रवेश किया तो उसकी सजावट देख वह मन ही मन बहुत हर्षायमान हुआ; वह

मंजिल चांदी का वना हुआ था। दूसरा मंजिल सोने का था उसे मोतियों से जड़ा हुआ चमचमाता देख राजा मन ही मन संकुचित होता और सोचने लगता कि मेरे राज्य में इतनी बड़ी विभूति का स्वामी वसता है यह विभूति तो मेरे पास भी नहीं है यह पुरुष धन्य है और मैं भी धन्य हूं कि मेरे राज्य में ऐसे भाग्य-शाली पुरुष का निवास है।' इस प्रकार एक के वाद एक मंजिल को पार करता हुआ राजा श्रेणिक सेठानी भद्रा के साथ चौथे मंजिल पर पहुंचा जो स्फटिक का वना हुआ था। इस मंजिल पर आते ही राजा को शंका हुई कि यह तो अथाह पानी से भरा है इसकी परीक्षा के लिये राजा ने अपनी हीरे की अंगूठी उसमें डाली, अंगूठी का आवाज तो हुआ मगर अंगूठी स्फटिक के तेज में अदृश्य हो गई। तव राजा अंगूठी देखने के लिये चकाचौंध सा हो गया। फिर कर जव भद्रा ने पूछा महाराज! क्या हुआ तव राजा वोला कि 'मेरी हीरे की अंगूठी यहां गिर गई है उसे देख रहा हूँ।' तव तो भद्रा ने उत्तर दिया - महाराज! घवराइये न यहीं विराजिये अव आगे जाना तो और भी कठिन है शालिभद्र तो सातवें मंजिल पर रहता है।

राजा को वहीं वैठाकर पहले तो भद्रा ने एक छाव अंगूठियों की भरकर लाई और विनय पूर्वक राजा को निवेदन किया कि 'महाराज! आपकी अंगूठी तो मिलना कठिन है मगर इस छाव में जो अंगूठी आपके मन भावे उसे गृहण कीजिये इतना कह वह शालिभद्र के पास गई और उसे कहा वेटा। अपने यहां नगर-नाथ राजा श्रेणिक पधारे हैं उनसे मिलने चलो। तव शालिभद्र वोला माता क्या मेरे ऊपर भी कोई नाथ है? मैं तो अभी तक अपने को ही

सर्वश्रेष्ठ मानता था। यह सोच मन में उदासी आ गई और माता के वचन शिरोधार्यकर वह राजा श्रेणिक से मिलने आया। राजा ने उसे बड़े हर्ष से हृदय से लगाया और उसका मुख चूम उसके भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बहुत कुछ वार्तालाप होने के पश्चात राजा तो अपने महलों की ओर रवाना हो गया, पर शालिभद्र मन में चिन्तित हो सोचने लगा कि 'मैं दुर्भागी हूँ कि इतनी सम्पति पाकर भी मेरे ऊपर नाथ रह गया अब तो ऐसी तपस्या करनी चाहिए जिससे सिर पर नाथ न रहे।' इसप्रकार मन में वैराग्य भावना उत्पन्न होते ही वह अपनी एक-एक स्त्री को प्रतिदिन तजने लगा।

इधर तो शालिभद्र अपनी एक - एक स्त्री को तज रहे थे कि उधर उसी नगर में उनके बहनोई सेठ धनभद्र रहते थे। एक दिन शालिभद्र की बहिन सुभद्रा उन्हें शीतल जल से स्नान करा रही थी कि उसे अपने भाई की याद आ गई और उसके आँख मे आँसू की गरम-गरम बूंदे धनभद्र सेठ के कन्धे पर गिरी। इस तरह धनभद्र ने सुभद्रा की ओर देखा कि ऐसे सुख की घड़ी में यह रुदन क्यों? उसने उसका कारण पूछा, तब बोली पतिदेव ! मैं तो अपनी सातों सहेलियों के साथ आपके सहवास में सुख का अतुलनीय अनुभव कर रही हूँ परन्तु मेरा भाई शालिभद्र संसार सुख को तिलांजलि दे एक-एक स्त्री का रोज त्याग कर रहा है वह तो वैराग्य भावना से पूरित हो चुका है। तब तो धनभद्र हँसे और बोले कि जब तेरा भाई वैराग्य से रंग गया है तो एकदम सबको क्यों नहीं छोड़ देता। इससे मालूम होता है कि वह कुछ कायरता से कार्य कर रहा है। इस पर सुभद्रा ने ताना मारा। प्राण प्रिय ! आप तो सुख के मद

में चूर हैं आप वैसा करो तो पता पड़े। इतना सुनते ही धनभद्र ने उन आठों स्त्रियों को वहन कहकर उसी समय तज दिया और शालिभद्र की ओर जा पहुँचे।

शालिभद्र के यहाँ पहुँचकर उससे कहा 'कायर! जव वैराग्य का ही अन्तिम आश्रय हो चुका तो एक-एक स्त्री क्या छोड़ता है। मैं तो आज ही आठों का परित्याग कर तुम्हारे पास आया हूँ। चलो शुभ कार्य में देर क्यों? वहनोई के वचन सुन शालिभद्र भी उसी क्षण नीचे उतरे और दोनों ने भगवान की शरण में आकर दीक्षा ग्रहण कर ली। थोड़े दिन ही वाद धनभद्र तो मोक्ष सिधारे और शालिभद्र सर्वार्थ सिद्धि देव गति पाये।

# ग्रहस्थ और विरोधी हिंसा

## कौणिक और चेड़ा राजा का युद्ध

प्रभु महावीर स्थान - स्थान में धर्मोंपदेश देते हुए और श्रेणिकादि राजाओं की रानियों को दीक्षित करते हुए चम्पानगरी की ओर पहुँचे। उन दिनों राजा कौणिक वहाँ राज्य करता था। उसकी माता का नाम काली था; प्रभु के आगमन का समाचार सुन उसने पूछा 'भगवन् मेरा लड़का कालीकुमार संग्राम में गया हुआ है उसका कोई समाचार मालूम नहीं हुआ इसलिए उसकी कुशल क्षेम जानने की मेरी तीव्र अभिलाषा है कृपाकर उसे कहिए।

सर्वज्ञ भगवान बोले 'कि उसका तो शत्रु के ओर से आये हुए एक ही बाण में शरीरान्त हो गया' यह सुनकर काली माता मूर्छित हो गई। कुछ समय के बाद वह होश में आयी और

बोली भगवन् राजा कौणिक की सम्मति लेकर मैं दीक्षा धारण करूँगी। उसने वैसा ही किया और उसके पीछे नौ रानियों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

जिस संग्राम में कालीकुमार मारे गये उसका संक्षिप्त वर्णन शास्त्रानुकूल इस प्रकार है कि बहुत समय तक राज्य करते हुए राजा श्रेणिक को उसके पुत्र कौणिक ने राज्य के लोभ के कारण पकड़कर कैद में डाल दिया। कौणिक के दस भाई और भी थे, उनके पास आकर कौणिक ने अपने नीच कार्य की सारी हकीकत कही और उन्हें प्रलोभन दिया कि इस राज्य का स्वामी बनते ही मैं सारा राज्य अपने भाइयों में बराबर हिस्सों में बाँट दूंगा और बाद में उसने अपना सारा राज्य ग्यारह हिस्सों में बाँट दिया।

पिता को राजबन्दी बनाकर, आप राजा बनकर वह अपनी माता के पास उसका आशीर्वाद लेने को आया। परन्तु पुत्र की नीचता से माता को बहुत दुख हुआ। उसने उस नीच को बहुत फटकारा और कहा— 'बेटा ! क्या इसी नीचता का नाम पितृ भक्ति है। इसी दिन के लिए तेरे दयालु पिता ने तुझे पाल पोसकर बड़ा किया था। तुझे याद नहीं है पर सुन ! जब तू मेरे गर्भ में आया तब ही से मेरी गर्भजात भावनाओं में नीचता आने लगी थी और मैं यह जान गयी थी कि इस गर्भ का बालक बहुत ही नीच प्रकृतिवाला होगा। इसलिए तेरे पैदा होते ही मैंने, अपनी कूग्र लज्जित न हो, तुझे कचरे के घूड़े में डलवा दिया था। मगर तेरे दयालु पिता बिना किसी को मालूम हुए तुझे वहाँ से उठा लाये और बड़े प्रेम से तुझे पाला पोसा और इतना बड़ा किया। और आज तूने उन्हें कैद

में डलवा दिया और मेरा आशीर्वाद लेने आता है, तुझे लाख बार धिक्कार है। तू इसी समय जा अपने कृपालु पिता को बन्धनों से मुक्त कर।'

माता के ऐसे मार्मिक वचन सुन कौणिक ने अपनी तलवार उठाई और अपने पिता को मुक्त करने के लिए चल दिया। पिता ने ज्योंही उसे नंगी तलवार हाथ में लिए हुए आता देखा त्योंही उनके मन में शंका प्रतिशंकाएं उठने लगीं। वे सोचने लगे कि पहले तो इसने मुझे कैद खाने में डलवाया और अब यह नीच मुझे जान से वंचित करना चाहता है। ऐसा मन में विचार कर वे सोचने लगे कि 'अत्याचार और अन्याय चाहे वह बड़े से हो या छोटे से, राजा से हो अथवा प्रजा से, ऊँच से हो या नीच से, वह किसी भी हालत में क्षमा योग्य नहीं होना चाहिए। अन्याय और अत्याचार को सहन करने वाला या उनको सहयोग देने वाला अन्यायी और अत्याचारी से भी वुरा और भयंकर होता है। वीर पुरुष के लिए पराधीनता का जीवन त्याज और असह्य है।' इतना विचार मन में आते ही राजा ने अपनी हीरे की अंगूठी की ओर देखा और अपने इष्ट का स्मरण कर उसे चूंस डाला। चूंसते ही राजा तो परलोक-वासी हो गये और कौणिक पछताते रह गये। इसी रंज में कौणिक ने अपनी राजधानी राज्यग्रहि से हटाकर चम्पापुरी में कायम की और वहीं रहने लगा।

अव तो सम्पूर्ण राज्य का स्वामी राजा कौणिक हो गया और उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना सम्पूर्ण राज्य ग्यारह हिस्सों में वाँट दिया राजा कौणिक का एक छोटा भाई और था उसका नाम वहलकुमार था और वह राजा कौणिक के पास रहता था।

राजा श्रेणिक ने एक सुन्दर हाथी तथा एक बहुमूल्य हार उसे दे रक्खा था जो कि राजा श्रेणिक के सम्पूर्ण राज्य की अनुपम विभूति थे। जब राजा कौणिक राज्याधिकारी हुए तो उन्हें लोभ ने घेरा। उनकी इच्छा उस हाथी और हार को लेने की हुई। लोभ दुनिया में क्या नहीं कराता, यह तो आत्मा का भयंकर रिपु है। क्योंकि—

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः।
सम भ्रांत यनिर मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः॥

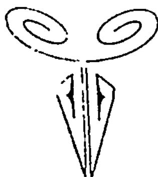
कौणिक राजा की यह दुईच्छा जब वहलकुमार को मालूम हुई तब वह अपनी उक्त दोनों बहुमूल्य चीजों को लेकर भाग निकला। भागकर वह अपने नाना वैशाली के राजा चेड़ा के यहाँ चला गया। राजा चेड़ा बहुत धर्म परायण एवं जैन धर्म का कट्टर अनुयायी था। उनके आसपास के इतर राजागण भी जैन धर्मी थे जब राजा कौणिक को वहलकुमार के चले जाने का पता लगा तब उसने राजा चेड़ा के पास दूत भेजे और कहा कि 'वहल-कुमार हाथी और हार लेकर चला आया है उसे वापिस करो।' इस पर राजा चेड़ा ने उत्तर दिया कि यदि तुम हाथी और हार लेना चाहते हो तो अन्य भाइयों के समान वहलकुमार को भी अपने राज्य का हिस्सा दो। अन्यथा वे चीजें तुम्हें नहीं मिल सकती। इस उत्तर को पाकर राजा कौणिक आपे से बाहर हो गया। उसने तुरन्त लड़ाई की तैयारी कर ली। इधर राजा चेड़ा ने भी भविष्य विचारकर अपनी सेना को तथा अपने सामन्त राजाओं को सहायतार्थ संग्राम के लिये तैयार हो जाने का संदेशा भेजा। ये राजागण सब जैन धर्मी थे। वे राजा चेड़ा के आदेशानुसार सब एकत्रित हुए और युद्ध के कारणों पर उन्होंने विचार किया। शास्त्र और व्यवहार का विचारकर वे राजा लोग चेड़ा से बोले

'राजन्! हम लोग जैन धर्मी हैं जिसका मूल तत्व 'अहिंसा' है। अहिंसा कायर और निर्वलों का धर्म नहीं है। वह तो चिरकाल से वीर पुरुषों का धर्म रहा हुआ है। हम लोग तो गृहस्थ हैं। गृहस्थी विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता। इस युद्ध में तो विरोधी हिंसा का सामना है। यदि कोई आततायी उपद्रवी अपने धन, राज्य या अपने शरणागतों पर आक्रमण करे तो उसे हटाना कर्तव्य है। न्याय की प्रतिष्ठा ही वास्तविक अहिंसा की प्रतिष्ठा है। आंखों की प्रतिष्ठा है। आंखों के सामने अन्याय होता देखकर जो मौन रहता है वह अहिंसा का भक्त नहीं है। अन्याय और अत्याचारों को मिटाकर शान्ति फैलाना और दुःखियों के दुःख को दूर करना यह अहिंसा की सच्ची प्रतिष्ठा है। इसी प्रतिष्ठा की रक्षा करना सच्चे जैनी एवं क्षत्री का धर्म है' इत्यादि वचन कह वे बहलकुमार की रक्षा के हेतु सम्पूर्ण युद्ध सामग्री के साथ युद्ध स्थल में उतर पड़े।

उधर कौणिक भी अपनी सेना लेकर चेड़ा राजा पर चढ़ आया। बस दोनों तरफ से युद्ध आरम्भ हो गया। धर्म युद्ध के नाते रथी से रथी और घुड़सवार से घुड़सवार, पैदल सेना से पैदल सेना भिड़ गयी। भयंकर युद्ध हुआ और इसी युद्ध में वाण द्वारा कालीकुमार मारे गये जैसा कि भगवान ने रानी काली माता को ऊपर दर्शाया है।

अभिप्राय यह है कि जैनियों का अहिंसा धर्म यह कभी नहीं कहता कि अपनी जान, अपने माल, अपनी औरत, अपने धर्म अपने नातेदार अथवा अपने शरणागतों पर आई हुई आपत्तियों को दूर करने के लिए 'अहिंसा' बाधा पहुंचाती है। अपितु 'अहिंसा धर्म' की आड़ में कायर व डरपोक बनकर अन्यायों

और अत्याचारों को वढ़ने देना तो घोर हिंसा की वृद्धि करना है जिसे जैन धर्म में महान पाप का हेतु माना है। कसाइयों के आधीन होकर निरपराधी जीवों का विना कारण वध करना जैनियों के लिये महान हिंसा एवं अधर्म है। परन्तु अपराधी शत्रु अथवा किसी आततायी को उचित दण्ड देकर दम में दम रहते जीवमात्र को शान्ति पहुँचाना और दुनिया को अभीत वनाना जैनियों का परम धर्म है। अहिंसा वीरों का सवल और अभेद्य शस्त्र है। इसी शस्त्र के द्वारा संसार में अपूर्व शान्ति कायम रह सकती है जिसका प्रत्येक प्राणी अनुभव करता है। इसका तिरस्कार होते ही अशांति की प्रचण्ड ज्वाला भभक उठती है। इसीलिए विश्वशांति के महान उपासक इस शताब्दि के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी इसी प्रवल शस्त्र 'अहिंसा' का सहारा लिया जो अनुकरणीय है।



# गोशाला का पुनर्मिलन

## और

## पश्चाताप

भगवान महावीर के कथनानुसार तप करके गोशाला ने 'तेजोलेश्या' प्राप्त कर ही ली थी और उसे 'अष्टांगनिमित' की सिद्धि भी प्राप्त हो चुकी थी जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं। इन्हीं दो शक्तियों द्वारा वह अपने 'आजीविक सिद्धान्त का प्रचार करता चला जा रहा था और अपने को चौबीसवां तीर्थंकर कहता था। तेजोलेश्या से तो वह अपने विरोधियों को भयभीत बनाया हुआ था और अष्टांगनिमित से वह भूत और भविष्य की बातों को बता देता था इसी से बहुत से लोग उसके अनुयायी बनते चले जाते थे क्योंकि 'चमत्कार को नमस्कार' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। जहां कहीं वह जाता वहां ही वह अपने को अरिहंत कहता तथा उसकी प्रतिष्ठा भी उसी प्रकार होती थी।

इधर उधर घूमते-घूमते एक दिन प्रभु महावीर श्रावस्ती की ओर जा पधारे। वहां गोशाला भी आया हुआ था। उसके अष्टांग निमित्त ज्ञान की चर्चा चहुं ओर फैल रही थी। लोग भी धड़ाधड़ उसके शिष्य बन रहे थे। प्रभु की आज्ञा से गोचरी को आये हुए गौतमस्वामी ने सुना कि यहां कोई गोशाला आया हुआ है जो अपने को सर्वज्ञ 'जिन' कहता है। वे तुरन्त प्रभु के पास लौटकर गये और उनसे पूछा भगवान्, क्या गोशाला सचमुच 'सर्वज्ञ जिन है।' भगवान बोले, 'वह तो मंखली पुत्र अजिन है। बहुत दिन पहले वह मेरे द्वारा ही दीक्षित और शिक्षित हुआ है। परन्तु पूर्वकृत कर्मानुसार उसका स्वभाव ही वैसा है। अष्टांग निमित के योग से उसकी प्रसिद्धि फैल रही है पर वह अरिहन्त नहीं है।' यह सुन गौतम स्वामी की शंका समाधान हो गई।

एक दिन गोशाला की भेंट आनन्द मुनि से हो गई। उसने आनन्द मुनि को कहा 'मुनि! देखो तुम्हारे गुरु तो मुझे मंखली पुत्र कहते है और आप धर्माचार्य बनते हैं। तुम्हारे गुरु को दूसरे की निन्दा में धर्म दिखता है परन्तु उन्होंने मेरे तेजोलेश्या का प्रभाव नहीं देखा है जो उन्हें बात की बात में भस्म कर सकती है। अगर वे मुझ से शत्रुता करेंगे तो उन्हें और उनके अनुयायियों को उसका फल चखना पड़ेगा।' यह सुन आनन्द मुनि प्रभु के पास आये और प्रभु से सब हाल कह सुनाया और पूछा 'भगवान क्या उसकी तेजोलेश्या में इतनी शक्ति है कि वह सर्वज्ञों को भी भस्म कर सकता है अथवा वह अपनी केवल बड़ाई ही मारता है?' इस पर प्रभु ने उत्तर दिया कि 'अरिहन्तों के सिवाय सचमुच उस लेश्या में इतनी शक्ति है कि वह चाहे जिसे भस्म करदे। अतः सब मुनियों से कह दो कि

गोशाला के साथ कोई भी व्यर्थ का वादविवाद न करे। आनन्द मुनि ने वैसा ही किया।

इतने में गोशाला भी प्रभु के पास आ पहुँचा और कहने लगा 'ऐ काश्यप ! यहाँ के लोगों के सामने तुम मुझे मंखली पुत्र गोशाला कहते हो और अपना शिष्य कह कर मुझे पाखँडी बताते हो। मैं तुम्हारा शिष्य गोशाला अवश्य था। वह तो स्वर्गवासी हो चुका। जब उस सुन्दर शक्तिशाली शरीर को मैंने निर्जीव देखा तो मैंने अपना शरीर तो तप के बल से वहीं छोड़ दिया और उस मृतक गोशाला के शरीर में प्रवेश कर गया। इसी से तुम भ्रान्ति मे पड़े हो। मैं तो अरिहन्त मुनि हूँ।'

तब भगवान बोले– 'गोशाला ! यों मिथ्या बोलकर क्यों तुम अपनी ही आत्मा का हनन करते हो। मुझसे तुम्हारी कोई भी बात छिपी नहीं है।'

इस पर गोशाला बहुत ही क्रोधित हो गया और कहने लगा कि 'क्या तुम्हारी आ ही गई। मुंह बन्द करो नहीं तो अभी मटियामेट कर डालूंगा।

गोशाला की इस प्रकार धृष्टता देख प्रभु के दो मुनियों को बहुत ही बुरा लगा। उन दोनों ने अपने गुरु का अपमान देख शिक्षा रूपेण उसे कुछ बोल बैठे। इस पर उसने तुरन्त अपनी तेजोलेश्या उन दोनों मुनियों की ओर छोड़ी और बात की बात में वे आत्मध्यानी बनकर स्वर्ग सिधारे। इस पर तो गोशाला और भी गर्वित हो गया। अब तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा वह तो भगवान पर ही अपने वाक्‌वाणों की

वर्षा करने लगा। इस बार भगवान ने ही उसका उत्तर देना उचित समझा, वे बोले 'गोशाला ! अपने शिक्षा और दीक्षा गुरु से ही ऐसा घृणित व्यवहार ? जिससे तूने शास्त्रों का ज्ञान पाया तेजोलेश्या की प्राप्ति की उसके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार तुझे शोभता नहीं। यह तो ज्ञान की निर्बलता है। क्रोध अज्ञान का लक्षण है। ज्ञान और तप की शोभा विनय और शांतता है। अतः अब तू भी चेत।'

इतना सुनते ही उसके क्रोध का पारा और बढ़ गया। इस बार उसने भगवान के प्रति ही अपनी तेजोलेश्या का व्यवहार किया। परन्तु भगवान के घनघाति कर्म तो नाश ही हो चुके थे, उन पर इस लेश्या का क्या असर होने वाला था। वह अब तो पूर्ण वेग से गोशाला के तरफ ही लौटी और उसे भस्म करना आरम्भ कर दिया। गोशाला हिम्मत का पक्का हो चुका था। लेश्या छोड़ने के बाद वह प्रभु से कहने लगा कि 'अब कैसे बचोगे, छै महिने बाद ही इस शक्ति द्वारा तुम्हारा निधन हो जावेगा।'

इस पर सर्वज्ञानी प्रभु ने उत्तर दिया कि 'मेरी आत्मा तो इस समय अर्हन्तावस्था भोग रही है और वह ठीक सोलह वर्ष इसी अवस्था में रहेगी परन्तु तेरा तो निधन आज से सातवें दिन हो जावेगा। इसलिए तू अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण कर। अपनी कुत्सित भावनाओं का ध्यान तज दे जिससे तेरा अन्त सुधर जावे।'

तेजोलेश्या के उलट प्रभाव से पीड़ित होकर गोशाला मूक सा बन गया था। गौतमादि शिष्यगण उसे बार बार प्रबोधित करते थे पर छै दिन तक उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

उसके जीवन का जव अन्तिम समय आया तव उसके परिणामों ने पलटा खाया। उसके हृदय में विवेक उत्पन्न हुआ। उसने उसी क्षण अपने चेलों को एकत्रित किया और कहने लगा 'शिष्यों ! सचमुच इतने समय तक मैंने अपनी आत्मा को और जगत को धोखा दिया। मैं अभिमानवश अपने सर्वज्ञ गुरु भगवान महावीर के सत्सिद्धान्तों के प्रतिकूल चला और दुनिया को भी गुमराह करता रहा। मैंने आज तक अपने नाम को भी छिपाया। मैं सचमुच मँखलि पुत्र गोशाला ही हूँ। अज्ञानता के वशीभूत हो मैंने अपने आपको 'जिन' और 'अरिहन्त' कहलाने का थोथा स्वाँग रचा। भगवान महावीर ही सच्चे सर्वज्ञ हैं। यदि अपना भला चाहते हो शीघ्रातिशीघ्र उनके शरण में जाकर उनका सत्धर्म अँगीकार करो, जिससे मेरी भी इच्छा पूरी होकर शान्ति मिले। यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है।' शिष्यों ने अपने गुरु की आज्ञा अक्षरश: पालन की और वे सबके सब भगवान महावीर के शिष्य बन गये। इस तरह पथभ्रष्ट गोशाला ने भी अपने अन्तिम परिणामों को सुधारकर सातवें दिन सत्गति प्राप्त कर ली।

वेदनीय कर्म के प्रभाव से भगवान की छै माह से तेजोलेश्या के कारण शरीरावस्था कुछ विगड़ रही थी, सो भी सिंह अणगार मुनि द्वारा लाये हुए विजौरे के पाक को खाने से स्वस्थ हो गई।

## गौतमस्वामी और लब्धि प्रभाव

भगवान महावीर स्वामी के जीवन चरित्र में गौतमस्वामी और उनके प्रश्न उत्तर एक विशेष स्थान रखते हैं। जव से वेदान्तानुयायी इन्द्रभूति प्रभु महावीर के शिष्य हुए और उनका

नाम गौतम पड़ा तब से स्थान-स्थान में उनकी शँका और प्रभु के उत्तर का उल्लेख पाया जाता है। गौतमस्वामी ने समय-समय पर अपनी शँकाओं का निराकरण भगवान से कराया है। इन्हीं प्रश्नों की सँख्या कल्पसूत्र में छत्तीस हजार बताई हैं, जो आद्यन्त भगवती सूत्र में एकचित वर्णन की गई हैं जिन्हें पढ़कर आध्यात्मिक जगत अचम्भे में पड़ जाता है।

गोशाला के निधन हो जाने के पश्चात गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा, 'प्रभु तेजोलेश्या से वे दो मुनि और गोशाला मृत्यु पाकर कौन-कौन सी गति को प्राप्त हुए हैं सो कहिए।'

प्रभु ने उत्तर दिया कि गौतम! 'पहले मुनि सर्वानुभूति तो आठवे स्वर्ग में देवरूप जाकर जन्मे हैं और दूसरे मुनि सुनक्षत्र अच्युत नामक देवलोक में देव हुए हैं। गोशाले का जीव अन्त समय सुपरिणामों के योग्य से अच्युत स्वर्ग में गया है। अन्त में वे सब मानव भव प्राप्त कर अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्ति पावेंगे।'

गौतमस्वामी प्रभु द्वारा दीक्षित होने पर प्रभु के प्रथम गणधर हुए। ये चार ज्ञानधारी मुनि चौदह पूर्वधारी विद्या-निधान जिन-जिन को प्रतिबोध करके दीक्षा देते वे सब केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते थे परन्तु भगवान के ऊपर मोहनी कर्म के वश में स्नेह होने के कारण खुद को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता था।

एक समय (गौतमस्वामी ने) भगवान की देशना में ऐसा सुना कि आत्मलब्धि द्वारा जो अष्टापद तीर्थ की यात्रा करे सो उसी भव में मोक्ष पावे। अष्टापद बत्तीस कोस लम्बा ऊँचा

पर्वत है वहाँ पैदल तो कोई चढ़ ही नहीं सकता, परन्तु लब्धि के योग से उस पर चढ़ सकते हैं। गौतमस्वामी अपनी परीक्षा करने के लिए प्रभु की आज्ञा लेकर उस ओर रवाना हुए और अपनी लब्धि द्वारा सूर्य की किरणों का अवलम्बनकर उस पर्वत पर चढ़ने लगे जिसके आठ पगथिये थे। जब पहले पगथिये पर पहुँचे तो देखा कि पाँच सौ एक तपस्वी कोडिण्ण तापस प्रमुख एकान्तर उपवास की तपस्या कर रहे हैं। दूसरे पगथिये पर दिन्न नाम के तपस्वी पाँच सौ शिष्य सहित दो उपवास के बाद पारणा करने की तपस्या करते दीख पड़े और तीसरे पगथिये पर शैवालि नाम तपस्वी के पाँच सौ शिष्य तीन दिन के उपवास के बाद पारणा करने की तपस्या में जुटे दिखाई दिये। मगर उसके आगे चढ़ने को कोई समर्थ नहीं था। गौतम स्वामी को देख इन तपस्वियों के मन में चिन्ता हुई कि तप से हम लोग कृश हो चुके तो भी इस पर्वत पर न चढ़ सके तब तो यह स्थूल शरीर वाला कैसे चढ़ेगा। परन्तु गौतमस्वामी को अपनी लब्धि द्वारा देर भी न लगी और अष्टापद पर चढ़ गये। वहाँ भरत चक्रवर्ती द्वारा कराये हुए उन्होंने चौबीस तीर्थकरों के बिम्ब श्रीजिन प्रतिमा को नमस्कार करके तीर्थ एवं उपवास किया। रात्रि विश्राम वहीं किया और वहीं श्री वज्रस्वामी के जीव जृंभक देव को प्रतिबोध किया। प्रातः काल होते ही देव दर्शन कर जब उतरने लगे तो वे पन्द्रह सौ तीन तापस गौतम स्वामी का महात्म्य देख उनके शिष्य हो गये। दीक्षा देने के बाद जब गौतमस्वामी ने उनसे पूछा, भो तपस्विओ ! आज तुमको किस आहार से पारणा करावें, तब उत्तर में उन्होंने खीर माँगी। गौतमस्वामी ने 'अक्षीण महानसी लब्धि' द्वारा एक ही

पात्र से उन सबको पारणा कराया। उस समय तेले के उपवास वाले पाँच सौ एक तपस्वियों को गुरु का महात्म्य विचारते-विचारते ही केवल ज्ञान हो गया। इसी तरह भगवान का समवसरण देखते ही वेले की तपस्या वाले मुनियों को और भगवान की वाणी सुन एकान्तर उपवास वालों को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। इस प्रकार पन्द्रह सौ तीन मुनि भगवान के समवसरण आये और तीन प्रदक्षिणा देकर केवलियों की परिषद में चले गये। गौतमस्वामी ने भगवान की वन्दना की और नव-दीक्षित उन पन्द्रह सौ तीन तपस्वियों को प्रभु की वन्दना करने को वुलाया। तब भगवान वोले, हे गौतम ! केवलियों की अशातना मत कर। इस पर गौतमस्वामी बोले, स्वामिन् ! ये नये दीक्षित तो केवली हो गये पर मुझे केवल ज्ञान क्यों नहीं होता ? प्रभु ने उत्तर दिया, गौतम ! तू मेरे पर स्नेह छोड़ दे तो तुझे भी केवल ज्ञान हो जावेगा। इस पर गौतमस्वामी वोले, भगवन् ! मुझे केवल ज्ञान से कोई मतलब नहीं। मेरी अभिलाषा तो यही है कि आप पर मेरा स्नेह वना रहे।

ऐसे गुरु भक्त गौतमस्वामी ने ऐवन्तकुमारादि अनेक जीवों को प्रतिवोधित किया जो अन्त में केवल ज्ञानी वन शिव गति के वासी हुए। गौतमस्वामी का चरित्र भी पढ़ने और मनन करने योग्य है परन्तु जैन शास्त्रों में इनके चरित्र की छटा वहुत विरलता से पायी जाती है-जिसका संगठित चरित्र वनाना परम आवश्यक एवं हितकारक प्रतीत होता है।

## अन्तिम देशना और परिणाम

छद्मस्त अवस्था में वारह वर्ष तक प्रभु महावीर ने अपने चरित्र से किस धीरता और वीरता के साथ मौन रह कर

अखण्ड शांति का पाठ पढ़ाया सो तो पाठकों को तो भली भांति मालूम ही हो गया। केवल ज्ञान प्राप्त कर प्रभु ने अपने निर्वाण तक हिंसा को दूर भगा कर अनेक राजा महाराजाओं को अहिंसा की सुन्दर छाया में किस प्रकार प्रवेश कराया सो भी पाठकों से अब छिपा नहीं है।

इस भरतखण्ड में अहिंसा का सतत् उपदेश देते हुए, भिन्न-भिन्न स्थानों में आर्द्रकपुर के राजकुमार, दशार्णपुर के दशारणभद्र राजा इत्यादि को दीक्षित करते हुए बयालीस वीं अन्तिम चतुरमासी के समय प्रभु महावीर पावापुरी में हस्तिपाल राजा की जीर्ण राज-सभा दाणमंडि में आकर विराजे। इस समय भगवान के इन्द्रभूति प्रमुख १४ हजार साधु, ३६ हजार साध्वियां, बारह व्रतधारी, एक लाख उनसठ हजार श्राविकाएं थीं। इनमें से ३१४ पूर्वधारी 'जिन' के समान अक्षरों की योजनाओं को जानने वाले, १३०० अवधज्ञानी, ५०० मन पर्य्यवज्ञानी, सात सौ केवली, सात सौ विक्रयलब्धि धारक साधु, सात सौ अनुत्तर विमान स्वर्ग में जाने वाली और चार सौ विद्वानवादी थे जिन के साथ इन्द्रादि देव भी वाद करने में असमर्थ थे। इनके अतिरिक्त लाखों नर नारी ऐसे थे कि जिन्होंने भगवान के धार्मिक सिद्धांतों को अन्तःकरण से अपनाकर अपने दैनिक व्यवहार में उतार लिया था। प्रभु के स्वहस्त दीक्षित सात सौ साधु और चौदह सौ साध्वियां मोक्ष गये। ग्यारह गणधरो में से इन्द्रभूति (गौतम) और सुधर्मा स्वामी को छोड़कर शेष नौ गणधर इस समय तक मोक्ष सिधार चुके थे।

जब भगवान अपना अन्तिम उपदेश देने के लिए पधारे तब वहां इन्द्र काशी देश का स्वामी मल्लकी गोत्रीय नव राजा

तथा कोशल देश के लेछकीय नव राजा इस प्रकार अनेक छोटे वड़े राजा महाराजा एकत्रित हुए और भगवान की अमृतवाणी सुन उन्होंने अपना जीवन सफल किया।

इस उपदेश में प्रभु ने भव्य जीवों के उपकारार्थ चार पुरुपार्थ अर्थात्– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दिव्य संदेश संसार के कल्याणार्थ सुनाया। जिसमें अर्थ और काम ये पुरुपार्थ तो मनुष्य सरलता से बचपन से ही कुछ न कुछ साध लेता है। परन्तु धर्म और मोक्ष ये पुरुपार्थों का कार्य कारण सम्बन्ध होने से कुछ कठिनाई जाती है। धर्म मोक्ष का कारण है। जो धर्म जीवात्मा को मोक्ष तक नहीं ले जाता वह धर्म धर्म ही नहीं कहला सकता। अस्तु।

प्रभु महावीर ने अपनी अन्तिम देशना में धर्म पुरुपार्थ के दस लक्षण वर्णन किये हैं वे उस प्रकार हैं– (१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव अर्थात् मृदुता (३) उत्तम आर्जव अर्थात् सरलता, निष्कपटता (४) शौच अर्थात् आत्मा की अन्तर्शुद्धि और बहिर्शुद्धि दोनों (वहाँ किसी-किसी शास्त्रों में लाघवे अर्थात लघुता याने निर्मोहतों को बताया), (५) सत्य अर्थात सच्चाई (६) संयम अर्थात इन्द्रियों को वश में करना (७) तप अर्थात उपवास नियम योगाभ्यास इत्यादि (८) त्याग अर्थात बाहरी वस्तुओं से मन को हटाकर आत्मज्ञान में तत्पर होना (९) आंकञ्चन अर्थात निर्लोभता, निर्व्याजता याने परिग्रह रहित होना (१०) ब्रह्मचर्य अर्थात शील धर्म सेवन करना। इन दसों अँग का सीधा साधा निकटतम सम्बन्ध आत्मा से है। और इन्हीं के सहारे यह आत्मा अपने निज स्वभाव में आकर परमात्मपद

अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। और भव सागर की कँटकीर्ण उलझनों से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है।

तत्पश्चात् गौतमस्वामी ने प्रभु से अवसर्पण काल के पाँचवे और छट्ठे आरे का वर्णन पूछा। प्रभु ने उसका भी उत्तर अद्यो-पान्त वर्णन किया। इसके बाद प्रभु ने गौतमस्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध करने के लिए एक पास की बस्ती में भेजा। प्रभु आज्ञा धारण कर वे देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए चले गये और रात्रि को वहीं ठहर गये।

यह रात्रि कार्तिक कृष्ण अमावश की थी। उसी रात्रि में भगवान ने अपनी श्रीमुख से सुख विपाक और दुःख विपाक के पचपन अध्यायों का प्रतिपादन किया। इसके अतिरिक्त छत्तीस अपृष्ठ व्याकरण का प्ररूपण भी विना प्रश्न के ही किया। जब इस प्रकार अखंड देशना उस रात्रि में प्रभु कर रहे थे कि इन्द्र का सिंहासन डगमगाया। वह तुरन्त समझ गया कि भगवान का निर्वाण काल निकट आ पहुँचा है। बस फिर तो वह शीघ्रातिशीघ्र अपने परिवार सहित प्रभु की सेवा में आकर उपस्थित हुआ। वन्दना नमस्कार कर प्रभु से विन्ती करने लगा कि 'हे भगवान ! आपकी राशि पर दो हजार वर्ष का भस्मगृह आया है उसके आने से सँसार में आपत्तियों का भरमार हो जावेगा। साधु साध्वियों का मान न रहेगा। धर्म में रुचि हट जावेगी इसलिए आप अपनी आयु दो घड़ी के लिए वढ़ा लीजिए जिससे वह ग्रह आपकी उपस्थिति में आ जावे तो आपके तप के योग से वह विलकुल निस्तेज होकर अनर्थ न करेगा।'